ओ३म्

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा

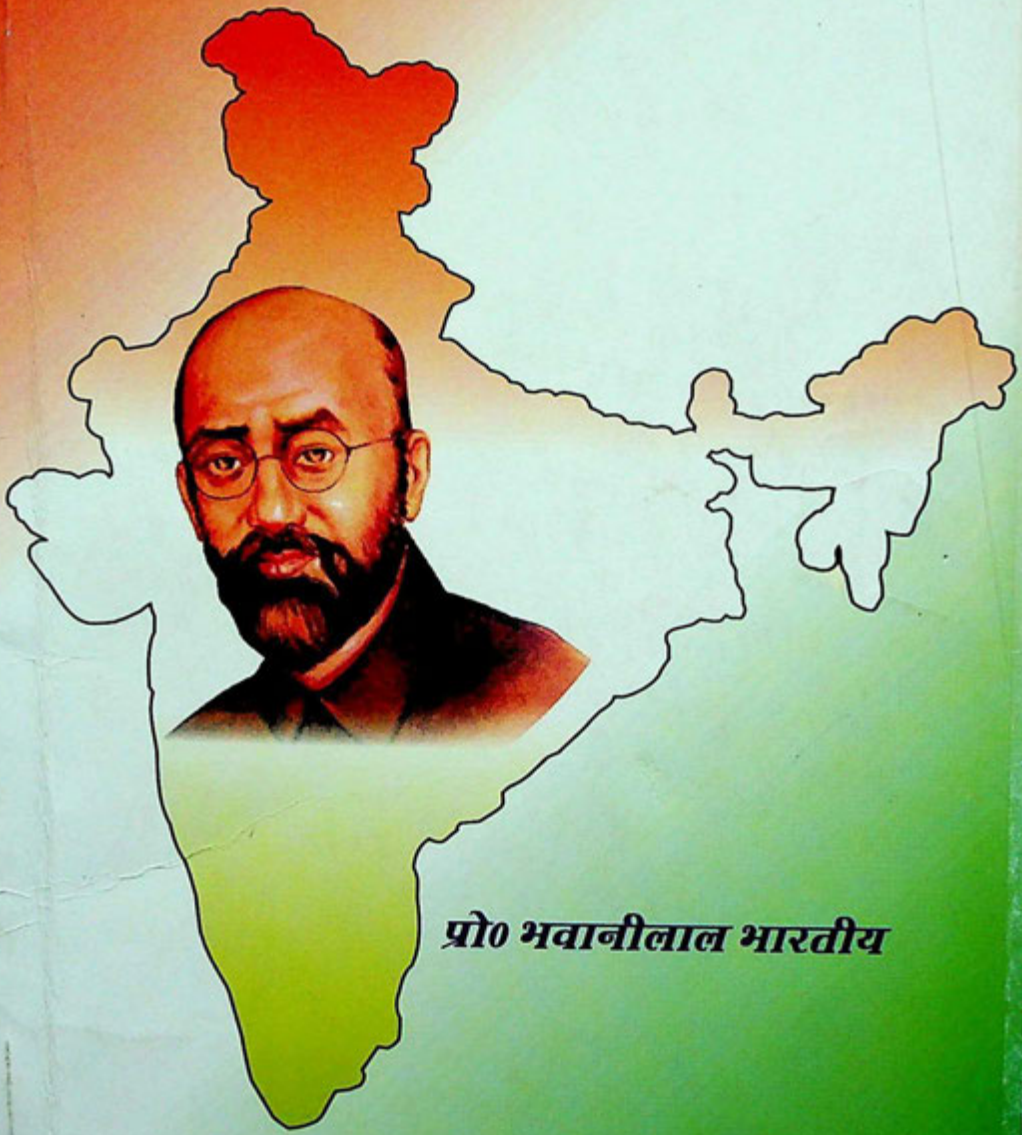

प्रो० भवानीलाल भारतीय

।।ओ३म्।।

क्रान्तिगुरु महर्षि दयानन्द के प्रधान शिष्य

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा

(भारत में क्रान्तिकारी चेष्टा के आद्य प्रवर्तक)

लेखक

प्रो० भवानीलाल भारतीय

एम० ए०, पी-एच० डी०

(सेवानिवृत्त प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
दयानन्द चेयर फॉर वैदिक स्टडीज, पंजाब विश्वविद्यालय)

आर्य प्रकाशन

८१४, कूण्डे वालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक:-
तिलकराज आर्य
अध्यक्ष
आर्य प्रकाशन
814, कूण्डेवालान, अजमेरी गेट
दिल्ली:- 110006 (भारत)
दूरभाष:- 011- 23233280
011- 23213280
09868244658

संस्करण- 2011
मूल्य- ₹ 70.00

मुद्रक-

विषय क्रम

	पृष्ठ
भूमिका	४
प्राक्कथन	८
प्रकाशकीय	१२
१. जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन	१३
२. बम्बई आगमन	१८
३. देश भ्रमण और धर्मप्रचार	२२
४. स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की मुद्रण व्यवस्था	२८
५. ऑक्सफोर्ड में अध्ययन	३०
६. भारत के सार्वजनिक जीवन का सिंहावलोकन	३४
७. देशी रजवाड़ों में	३८
८. श्यामजी कृष्ण वर्मा और वैदिक यंत्रालय	४२
९. जूनागढ़ के अनुभव	४५
१०. इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान	५०
११. हर्बट स्पैन्सर तथा स्वामी दयानन्द के नाम की छात्रवृत्तियाँ	५४
१२. राजनीति में अवतरण	५९
१३. बनारस कांग्रेस और उसके बाद	६६
१४. दादाभाई या तिलक	७२
१५. लंदन का राजनैतिक जीवन	७९
१६. पैरिस गमन	८५
१७. युद्ध का जयघोष	९१
१८. मदनलाल धींगड़ा का बलिदान	९५
१९. सावरकर प्रसंग	१००
२०. पैरिस तथा जेनेवा में	१०५
२१. जीवन संध्या	१११
परिशिष्ट-१. संस्कृत: एक जीवित भाषा	११७
परिशिष्ट-२. स्वामी दयानन्द के पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के नाम लिखे गये दो संस्कृत पत्र-एवं हिन्दी अनुवाद	२२४
परिशिष्ट-३. पं० रामनारायण मिश्र के संस्मरण	१३२
परिशिष्ट-४. पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा का अद्‌भुत पाण्डित्य	१३४
परिशिष्ट-५. पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा विषयक पं० युधिष्ठिर मीमांसक का पत्र	१३५

भूमिका

यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि प्रो० डॉ० भवानीलाल भारतीय जैसे प्रखर इतिहासविद् विद्वान् द्वारा लिखी गई, भारत में सार्वत्रिक, प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी जनमुक्ति-संग्राम के आद्य चेतनावाहक, राष्ट्रपितामह महर्षि दयानन्द के परम प्रीतिपात्र शिष्य और क्रान्ति-संग्राम के आद्य सेनापति क्रान्तिकारियों के मुकुटमणि पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा की विस्तृत जीवनी प्रथम बार हिन्दी में साद्यन्त प्रकाशित हो रही है। गत वर्ष ही डॉ० भारतीय स्वामी दयानन्द की विस्तृत एवं विवेचनापूर्ण जीवनी का प्रकाशन कर चुके हैं, जो आज तक लिखे गये महर्षि के जीवनचरितों में सर्वश्रेष्ठ तथा साहित्यिक शैली से युक्त है।

क्रान्ति-सेनापति श्यामजी कृष्ण वर्मा के बारे में आर्यसमाज के लोगों में तो जानकारी का अभाव था ही, यद्यपि वे आर्यसमाज के साथ गहरे जुड़े हुए थे किन्तु सामान्यतया इतिहासविद् विद्वानों को भी उनके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी नहीं रही। इसके अनेक कारण हैं, किन्तु अभी उनकी चर्चा अप्रासंगिक ही होगी।

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के जीवन एवं कार्यों का सूक्ष्म अन्वेषण करके सर्वप्रथम अधिकृत दस्तावेजी जीवनी लिखने का श्रेय दिवंगत श्री इन्दुलाल याज्ञिक को जाता है, जो स्वयं इतिहास एवं साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इन्दु भाई ने यह जीवनी एक अन्य क्रान्तिकारी श्री सरदारसिंह जी राणा की प्रेरणा और सहायता से पैरिस में लिखी थी। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इस अंग्रेजी जीवनी का प्रकाशन उस समय सम्भव नहीं हो सका। यह बहुमूल्य प्रामाणिक ग्रन्थ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् ही प्रकाशित हो सका। इसी से श्यामजी कृष्ण वर्मा के महान् व्यक्तित्व तथा उनके प्रदाय का पूरा पता देशवासियों को लग सका। आवश्यकता थी कि इस ग्रन्थ का हिन्दी तथा अन्य भारतीय

भाषाओं में अनुवाद होता, किन्तु यह पुरुषार्थ किसी ने नहीं किया। विदेशी इतिहासकारों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध हुआ। रूस तथा पूर्वी जर्मनी के शोध-विद्वानों ने इस ग्रन्थ के सहारे भारतीय क्रान्ति के इतिहास पर नवीन प्रकाश डाला है। इसका गुजराती अनुवाद निकला अवश्य, किन्तु उसे सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता।

भारतीय इतिहास के आलेखन में कई कारणों से भारतीय जनक्रान्ति के पुरोधा दयानन्द तथा श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे क्रान्तिकारियों के मूल्यांकन का सही प्रयत्न नहीं किया गया है। हमारे इतिहासकार अनेक गुत्थियों में उलझे हुए हैं जिन्हे सिर्फ दयानन्द और श्यामजी जैसे व्यक्तियों के अध्ययन से ही सुलझाया जा सकता है। यों कहें तो अधिक अच्छा होगा-

To unlock the riddles of the Indian Revolution, Dayananda and Shyamji Krishna Varma are the master keys.

श्री इन्दुभाई से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हम सह-कार्यकर्त्ता भी रहे हैं। दयानन्द और श्यामजी के क्रान्तिकारी कार्यों के बारे में हम घण्टों चर्चा करते रहते थे। श्री इन्दुभाई दयानन्द के लिए 'क्रान्तिगुरु' का विशेषण प्रयोग करते थे। 'मानव हिमालय' भी वे उन्हें कहते थे। श्री याज्ञिक श्यामजी के लिए 'क्रान्ति-सेनापति' शब्द का प्रयोग करते थे। उन्होंने मुझे बताया कि 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' पत्र के दुर्लभ अंक पूना में लोकमान्य तिलक द्वारा सम्पादित 'केसरी' के कार्यालय में हैं। श्री इन्दु भाई की यह भी इच्छा थी कि इस ग्रन्थ की संशोधित एवं परिवर्धित आवृत्ति प्रकाशित हो, किन्तु उनकी व्यस्तताओं के कारण यह कार्य नहीं हो सका। आज तो यह ग्रन्थ सर्वथा दुर्लभ ही हो गया है।

मेरे परममित्र एवं बन्धु डॉ० भारतीय से मैं श्यामजी कृष्ण वर्मा की इस जीवनी के सम्बन्ध में पर्याप्त समय से चर्चा करता रहा हूँ। कुछ वर्ष जब उनका अहमदाबाद आना हुआ, तो मैंने यह ग्रन्थ उन्हें दिया। तभी से डॉ० भारतीय ने यह संकल्प किया था कि राष्ट्रभाषा के पाठकों को श्यामजी के जीवन-चरित से परिचित कराने का वे प्रयास करेंगे तथा स्वामी दयानन्द के इस महान् शिष्य की जीवनी का प्रणयन वे स्वयं करेंगे। मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि उनका यह संकल्प पूरा हुआ।

श्यामजी कृष्ण वर्मा के निकटतम साथी और मित्र क्रान्तिकारी सरदारसिंह राणा तथा मादाम कामा थे। मैंने कई वर्ष पूर्व पता लगाया था कि फ्रेंच भाषा में लिखित श्री राणा की डायरी और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी महासम्मेलन् में

मादाम कामा द्वारा फहराया गया भारतीय राष्ट्रध्वज (जिसकी कल्पना और निर्माण भी मैडम कामा ने ही किया था) श्री राणा के परिवार में आज भी सुरक्षित हैं। यदि भारत सरकार अथवा किसी शोध-संस्थान द्वारा यह डायरी प्राप्त की जा सके, तो भारतीय इतिहास में कुछ नये अध्याय जोड़े जा सकते हैं तथा श्यामजी कृष्ण वर्मा के सम्बन्ध में भी नवीन जानकारी मिल सकती है। खेद है कि ऐसा प्रयत्न अभी तक नहीं हो सका है।

श्री इन्दुभाई-लिखित जीवनी को मुख्य आधार बनाकर और स्वामी दयानन्द तथा श्यामजी के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना से युक्त इस जीवन चरित का महत्त्व निर्विवाद है। श्यामजी के जीवन और कार्यों के बारे में शोधकार्य का तो आज भी अवकाश है। विशेष रूप से फ्रांस, रूस तथा इंग्लैण्ड के राष्ट्रीय अभिलेखागारों में छानबीन की जाये, तो अनेक नवीन तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। महान् लेखक मैक्सिम गोर्की के पत्र में श्यामजी भारत के बारे में प्राय: लेख लिखा करते थे। इन लेखों का रूसी भाषान्तर छपता था। गोर्की तथा अन्य रूसी क्रान्तिकारियों के साथ श्यामजी का जीवन्त सम्पर्क था। गोर्की ने अपने एक लेख में श्यामजी को भारत का गेरीबाल्डी और मैजिनी (इटली के दो देशभक्त) कहा था। यह लेख गोर्की की रचनाओं के संग्रह में भी प्रकाशित हुआ है। इससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि संसार-भर में साम्राज्यवादियों की गुलामी से जनता को मुक्त करानेवाले नेताओं से श्यामजी का जीवन्त सम्पर्क था।

यदि श्यामजी कृष्ण वर्मा स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में न आते तथा उनके क्रान्तिकारी विचारों का संस्पर्श उन्हें न मिला होता, तो वे और चाहे कुछ भी बन जाते-महान् संस्कृतज्ञ, तेजस्वी पण्डित, बैरिस्टर तथा एक सफल प्रशासक, (वे बने भी थे) किन्तु क्रान्ति-सेनापति का विरुद उन्हें प्राप्त नहीं होता। तेजस्वी, ओजस्युक्त, मेधावी, विचारशील श्यामजी का एक प्रगतिशील क्रान्तिकारी के रूप में परिवर्तन तो तभी हुआ जब वे दयानन्द के सम्पर्क में आये और ऋषि के क्रान्तिकारी विचारों का स्पर्श उन्हें मिला। श्यामजी का समग्र क्रान्तिकारी अस्तित्व दयानन्द के विचारों पर निर्भर था। उनके क्रान्तिकारी विचारों और कार्यों की जड़ में दयानन्द थे। उन्हें इंग्लैण्ड जाने की प्रेरणा भी स्वामी जी ने ही दी थी।

दयानन्द का श्यामजी के ऊपर जो प्रभाव पड़ा वह प्रथम और पुरा असर था। विदेश में महान् दार्शनिक हर्बर्ट स्पैन्सर के विचारों ने उनकी

विचार-सम्पदा को विकसित एवं प्रभावित किया। क्रान्तिकारी समाजवादी चिन्तक कार्ल मार्क्स तथा यूरोप के अन्य विचारकों से भी वे प्रभावित हुए। उनकी विचारधारा पर इन सभी क्रान्तिकारी आन्दोलनकारियों का प्रभाव पड़ा था।

पर्याप्त श्रम, साधना एवं निष्ठा से लिखे गये इस जीवन चरित का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ। यह निश्चित है कि इसका स्वागत केवल आर्यसमाज के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु भारतीय इतिहास के अध्ययन के क्षेत्र में सर्वत्र होगा।

नरेन्द्र दवे

उस्मानपुर
अहमदाबाद।
भाद्रपद पूर्णिमा, २०४१ विक्रमी

प्राक्कथन

"भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए यदि-बल प्रयोग करने की भी आवश्यकता हो तो ऐसा करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए।" इस महत्त्वपूर्ण उक्ति को क्रियात्मक रूप में चरितार्थ करने की प्रेरणा देनेवाले सशस्त्र क्रान्ति के आद्य प्रवर्तक पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के विषय में हमारे देशवासियों की जानकारी बहुत कम है। इसका एक कारण यह है कि श्यामजी ने अपने जीवन के अन्तिम ३३ वर्ष इंग्लैण्ड तथा स्विट्ज़रलैण्ड में व्यतीत किये और उनकी मृत्यु भी विदेश की धरती पर ही हुई। अत: यहाँ के लोग उनके विचारों, धारणाओं एवं कार्यों के सम्बन्ध में बहुत कम जान पाये। एक अन्य कारण यह भी रहा कि श्यामजी का राजनैतिक जीवन सैद्धान्तिक अधिक रहा, व्यावहारिक कम। उन्होंने जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया उन पर चलने के लिए अन्यों को तो प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया, किन्तु स्वयं एक सिद्धान्त-स्थापक (Theoritician) आचार्य के रूप में ही रहे। तथापि, यह स्वीकार करना ही होगा कि वीर सावरकर, लाला हरदयाल, मदनलाल धींगड़ा तथा अनेक अन्य क्रान्तिकारियों द्वारा किये गये वीरतापूर्ण कृत्यों के पीछे श्यामजी की अदम्य प्रेरणा कार्य कर रही थी।

यहाँ प्रश्न होता है कि श्यामजी की देशभक्ति तथा स्वतन्त्रता के प्रति उनकी अदम्य इच्छा के पीछे कौन सी प्रेरणाएँ कार्यरत थीं? जैसाकि हम उनके जीवनचरित में देखते हैं, वे अपनी युवावस्था में ही स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आये थे। स्वामी जी से उन्होंने एक ओर संस्कृत का अद्वितीय एवं अप्रतिम ज्ञान प्राप्त किया तो दूसरी ओर स्वदेशनिष्ठा के दिव्य भावों को भी उनसे ही ग्रहण किया। स्वामी जी के प्रति उनका सम्मानभाव जीवन-पर्यन्त यथावत् रहा और वे अत्यन्त कृतज्ञता-पूर्वक उनका स्मरण करते थे। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में रहकर अध्ययन करते समय तथा बाद में स्थायी रूप में वहीं बस जाने पर, वे यूरोप के महान् चिन्तकों और दार्शनिकों के विचारों से भी प्रेरणा ग्रहण करते रहे। मिल और स्पैन्सर के विचारों का उन पर अमिट प्रभाव था।

श्यामजी के जीवनकारों का ध्यान उनके जीवन के एक अन्य पहलू की ओर भी गया है। धन के प्रति उनका प्रबल आकर्षण, वित्तोपार्जन की उनकी अदम्य लालसा तथा सांसारिक सुख-सुविधापूर्ण जीवनयापन की प्रबल इच्छा क्या उन्हें उन क्रान्तिकारियों के गुरु या अनुशास्ता का पद ग्रहण करने का अधिकार देती हैं जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए तिल-तिल कर अपनी आहुति दी थी तथा स्वाधीनता-यज्ञ में सर्वस्व होम दिया था? निश्चय ही श्यामजी का जीवन तिलक, अरविन्द और लाजपतराय के सक्रिय राजनैतिक जीवन से भिन्न है, वे सावरकर, भगतसिंह तथा बिस्मिल जैसे उन क्रान्तिकारियों की कोटि मे भी नहीं आते जिन्होंने अपने घर-परिवार, यहाँ तक कि शरीर को भी मातृभूमि के कष्टों का निवारण करने के लिए समर्पित कर दिया था। तथापि श्यामजी को भारत की सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का पितामह कहना अत्युक्ति नहीं है। वे ही प्रथम पुरुष थे जिन्होंने हर्बर्ट स्पैन्सर के शब्दों को उद्धृत करते हुए सर्वप्रथम कहा था- **"अत्याचार का प्रतिकार करना न्यायोचित ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। अत्याचारों का अप्रतिकार लोकहित के साथ-साथ स्वाभिमान का भी विघातक है।"**[1] जहाँ एक ओर उन्होंने विदेशी सत्ता को हटाने के लिए बल-प्रयोग तथा शस्त्र ग्रहण करने के औचित्य को स्वीकार किया, दूसरी ओर यह भी कहा कि यदि हम विदेशी शासन के साथ सब प्रकार से असहयोग करें तो इसका एक दिन टिका रहना भी असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार श्यामजी ने महात्मा गाँधी से पूर्व असहयोग, असहकार, सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा आदि की धारणाओं को प्रकट किया था।

जब हम यह स्वीकार कर चुके हैं कि भारत की आजादी की लड़ाई में श्यामजी का योगदान एक सिद्धान्त-प्रतिपादक का ही है, तो क्या ऐसा कहकर हम उनके व्यक्तित्व की महत्ता को घटाकर प्रस्तुत कर रहे हैं?- ऐसा नहीं है। श्यामजी ने जो कुछ किया, वह इतिहास का अमर पृष्ठ बन चुका है। इस शताब्दी के प्रथम दशक में इंग्लैण्ड में रहकर भारतीय युवकों और विद्यार्थियों को देशभक्ति की भावदीक्षा में दीक्षित करना कोई कम महत्त्व का काम नहीं था। 'इण्डिया हाउस' की स्थापना और उसे केन्द्र बनाकर प्रवासी भारतीयों में स्वतन्त्रता, स्वदेश-भक्ति, आत्म-गौरव तथा देश की पुरातन गरिमा को पुनरुज्जीवित करना कोई साधारण बात नहीं थी। इसी प्रकार 'इण्डियन

---

1. Resistance to aggression is not simply justifiable but imperative. Non-resistance hurts both altruism and egoism.

सोशियॉलॉजिस्ट' के माध्यम से भारतवासियों की आजादी की ललक तथा स्वतन्त्रता के लिए भारतीयों की योग्यता को सुदृढ़ शब्दावली में विश्व-जनमत के समक्ष प्रस्तुत करना श्यामजी के व्यक्तित्व को और ऊँचा उठा देता है।

यह सत्य है कि वे जीवन के अवशिष्ट दिनों में स्विट्जरलैण्ड के जेनेवा नगर में सर्वथा निस्संग, एकाकी जीवन व्यतीत करते रहे तथा उनकी मृत्यु भी स्वदेश से हजारों मील दूर उसी नगर में हुई, किन्तु जीवनभर उन्होंने विदेशी सत्ता से जिस प्रकार लोहा लिया, उसका स्मरण ही हमें रोमांचित कर देता है। संस्कृत तथा वैदिक शास्त्रों का यह प्रकाण्ड पण्डित यदि प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन में ही अपना सारा समय लगा देता तो सम्भवत: वह एक प्रख्यात प्राच्यविद्याविद् सरस्वतीपुत्र के रूप में सम्मानित होता, किन्तु नियति ने श्यामजी को अन्याय, अत्याचार और शोषण का प्रतिकार करने के लिए उत्पन्न किया था।

खेद है कि इस महापुरुष का कोई विस्तृत जीवन-वृत्तान्त राष्ट्रभाषा हिन्दी में अब तक नहीं लिखा गया। गुजरात के समाजवादी विचारक लेखक स्वर्गीय इन्दुलाल याज्ञिक ने १९३४ में अपने पैरिस-प्रवासकाल में श्यामजी के मित्र, साथी और सहयोगी श्री सरदारसिंह राणा से मुलाकात की और 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' की उन फ़ाइलों को प्राप्त किया जिनमें उस क्रान्तिकारी महापुरुष के विचार एवं व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित हो रहे थे। उसी समय दो मास का समय लगाकर श्री याज्ञिक ने श्यामजी के व्यक्तिगत पत्रों और दस्तावेजों का भी अध्ययन किया जो अनेक सन्दूकों में भरे पड़े थे। इसी आधार-सामग्री तथा इन्हीं मूल स्रोतों की सहायता से उन्होंने १९३४ के वर्ष में ही श्यामजी की एकमात्र प्रामाणिक जीवनी लिख डाली, किन्तु उसका प्रकाशन तो देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् ही सम्भव हुआ। १९५० में यह जीवन-चरित 'श्यामजी कृष्ण oelkoh d Hkkjrh; Økafrdkjh dk tho u vkSj ;qx* **(Shyamaji Krishna Varma-Life and Times of an Indian Revolutionary)** शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ की भूमिका नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के अनुज श्री शरच्चन्द्र बोस ने लिखी थी।

प्रसिद्ध आर्यसमाजी लेखक तथा समाजसुधारक दीवान बहादुर हरविलास शारदा की श्यामजी से उनके अजमेर-निवास के समय ही घनिष्ठता एवं आत्मीयता रही थी। इंग्लैण्ड में रहते समय श्यामजी ने शारदा जी को एकाधिक बार कहलाया था कि वे यूरोप आकर उनसे भेंट करें। वे शारदा जी की विदेश यात्रा

का सम्पूर्ण व्यय उठाने के लिए भी तैयार थे। एक बार श्यामजी ने शारदा जी को संदेश भेजकर कहा कि वे स्वयं तो निस्संतान हैं, अत: यदि शारदा जी यूरोप आकर उनसे मिलें तो वे उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी बना देंगे। किन्तु हरविलास शारदा का ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं बन सका। कालान्तर में श्री शारदा ने अंग्रेजी में श्यामजी का एक अन्य जीवन चरित लिखा जो मुख्यत: इन्दुलाल याज्ञिक द्वारा लिखित अंग्रेजी जीवनी पर ही आधारित था। इसकी मुख्य विशेषता इतनी ही है कि इसमें श्यामजी के अजमेर-निवासकाल के संस्मरणों को विस्तारपूर्वक निबद्ध करने के साथ-साथ उनके दैनन्दिन जीवन तथा चरित्र विषयक अनेक तथ्य विस्तारपूर्वक वर्णित हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इस अमर सेनानी के जीवन-चरित को व्यापक परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक का महत्त्व और बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि राष्ट्रभाषा में प्रकाशित होनेवाली श्यामजी की यह प्रथम प्रामाणिक जीवन कथा है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भागों का पृथक् महत्त्व है जिनमें श्यामजी के संस्कृत विषयक भाषण के महत्त्वपूर्ण अंश, स्वामी दयानन्द द्वारा श्यामजी को भेजे गये दो संस्कृत-पत्र तथा पण्डित रामनारायण मिश्र एवं पण्डित पद्मसिंह शर्मा लिखित दो रोचक संस्मरण सम्मिलित किये गये हैं। इस ग्रन्थ के सुन्दर साजसज्जा के साथ प्रकाशित करने का श्रेय बन्धुवर संजीव आर्य को है।

भवानीलाल भारतीय

तुलसी जयन्ती
श्रावण शुक्ल सप्तमी, २०६७ वि०
शंकर कॉलोनी, श्रीगंगानगर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

आर्यसमाज की नींव गौरवशाली बलिदानियों पर आधारित है और इसमें कुछ प्रमुख नाम हैं- महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० लेखराम, महाशय राजपाल आदि। महर्षि दयानन्द षड्यन्त्रकारियों की साजिश के शिकार हुए। स्वामी श्रद्धानन्द को शुद्धि आन्दोलन के कारण बलिदान देना पड़ा। उसी प्रकरण में पं० लेखराम ने वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसारार्थ अपना बलिदान दिया। महाशय राजपाल भी मतान्ध के हाथों असमय काल कवलित हुए।

इसके साथ ही कुछ ऐसे भी नाम हैं जिन्होंने अपना जीवन पराधीन भारत को स्वाधीन करने में समर्पित कर दिया। उनमें एक प्रमुख नाम है- स्वाधीनचेता पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा का। वह क्रान्ति गुरु महर्षि दयानन्द के प्रधान शिष्य थे। महर्षि ने उन्हें स्वयं पढ़ाया था और उनका मार्गदर्शन भी किया था। श्यामजी ने भी अपने स्वनाम धन्य गुरु महर्षि दयानन्द के कार्यों को आगे बढ़ाया। उन्होंने विदेशों में रहते हुए भी आजादी की मशाल को प्रज्वलित रखा।

श्याम जी का जीवन संघर्षमय रहा परन्तु वे कभी भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। ऐसे स्वतन्त्रतासेनानी की जीवनी प्रकाशित करते हुए मुझे अपार प्रसन्नता हो रही है। विगत कई वर्षों से उनकी जीवनी प्रकाशित करने की मेरी इच्छा थी। मेरी इच्छा को वैदिक भारतीय वाङ्मय के प्रसिद्ध लेखक, चिन्तक, विद्वान्, प्रो० भवानीलाल भारतीय ने पूरा किया। विद्वान् लेखक ने श्यामजी के जीवन के अनछुए पहलुओं पर विस्तार से लेखनी चलायी है। यह भी संयोग है कि श्यामजी ने अपनी पढ़ाई के लिए छात्रवृत्ति का सहारा लिया लेकिन इसके लिए उन्हें कितना संघर्ष करना पड़ा उसे आप इस जीवनी में पढ़ेंगे। इसके साथ ही उन्होंने स्वयं कितने विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देकर पढ़ाया, उसे भी आप यहाँ पढ़ेंगे। समय-समय पर उन्होंने विदेशों में रह रहे क्रान्तिकारियों की भी आर्थिक मदद की। उन्होंने धन के साथ-साथ क्रान्तिकारियों को अन्य संसाधन भी उपलब्ध कराये।

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने वीर सावरकर को भी छात्रवृत्ति दी। सावरकार को छात्रवृत्ति देने की सिफारिश करते हुए बालगंगाधर तिलक ने स्वयं एक पत्र श्यामजी को लिखा था। श्यामजी ने सावरकर को छात्रवृत्ति के योग्य पाया और उन्हें छात्रवृत्ति दी भी। ऐसे अनके तथ्य आपको इस पुस्तक में पढ़ने को मिलेंगे।

आशा है, आपको यह पुस्तक पसन्द आयेगी।

-तिलकराज आर्य

१. जन्म तथा प्रारम्भिक शिक्षा

शताब्दियों की पराधीनता से देश को मुक्त कराने के लिए सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा के आद्य-प्रवर्तक पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा का जन्म १८५७ के उसी स्मरणीय वर्ष में हुआ था, जबकि देशवासियों ने एक शताब्दी पूर्व प्लासी के युद्ध के परिणामस्वरूप स्थापित अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिए प्रथम बार विद्रोह का झण्डा उठाया। साम्राज्यवादी इतिहास-लेखकों ने १८५७ की क्रान्ति को मात्र सिपाही-विद्रोह (Mutiny या Sepoy Revolt) कहने की धृष्टता की है, किन्तु जस्टियन मैकार्थी ने 'History of Our Own Time' (तृतीय खण्ड) में इस सम्बन्ध में लिखा है- "यह केवल सेना का विद्रोह ही नहीं था। इसमें अंग्रेजी शासन के प्रति सेना का असन्तोष तथा गोरी सेना के प्रति इस देशवासियों के जातिगत घृणा भाव भी मिले हुए थे। देशी राजाओं तथा हिन्दुस्तानी सैनिकों ने मिलकर विदेशी सत्ता को समाप्त करने का प्रयत्न किया था। हिन्दू और मुसलमानों ने अपने धार्मिक भेदों को भुलाकर ईसाई शासकों का मुकाबिला किया। आपत्तिजनक चर्बी से युक्त कारतूसों के प्रयोग ने सुप्त चिंगारी को प्रज्वलित कर दिया। एक ही क्षण में मेरठ छावनी के सिपाहियों को एक नेता, एक झण्डा तथा विदेशी सत्ता के उखाड़ फेंकने का एक सबल कारण मिल गया। फलतः सैनिकों का यह विद्रोह एक क्रान्तिकारी युद्ध में बदल गया।"

वस्तुतः १८५७ की हलचल के बीज एक शताब्दी पूर्व ही बो दिये गये थे, जबकि प्लासी के युद्ध में अंग्रेज सेनापति क्लाइव की विजय हुई। तब से 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल ने धीरे-धीरे भारत में अपने पंजे फैलाना आरम्भ कर दिया। वारेन हेस्टिंग्स ने बनारस, रुहेलखण्ड तथा बंगाल का अधिग्रहण किया तो वेलेजली ने मैसूर तथा उत्तर एवं दक्षिण भारत के अवशिष्ट भाग को अंग्रेजी राज्य में मिलाया। यह बात नहीं कि स्वदेशी राजाओं और नवाबों ने बिना प्रतिरोध के ही विदेशी हुकूमत की प्रभु सत्ता स्वीकार कर ली थी, किन्तु तथ्य यह है कि वे भी अंग्रेजों की प्रबल सामरिक कूटनीति के आगे परास्त होते गये।

१८४६ में लार्ड डलहौजी भारत का गवर्नर-जनरल बना। साम्राज्य विस्तार में डलहौजी के प्रयत्न अत्यधिक क्रूरतापूर्ण, उग्र तथा अमानवीय रहे। सर्वप्रथम उसने पंजाब केसरी महाराजा रणजीतसिंह को सन्धि करने के लिए विवश किया और उनके पुत्र दिलीपसिंह से विश्व-विख्यात कोहेनूर हीरा छीन लिया। इसके पश्चात् उसने बर्मा की स्वाधीनता को समाप्त किया। महाराष्ट्र में सातारा स्थित शिवाजी के वंशजों को परास्त कर नागपुर के भोंसले राजाओं को सत्ता से वंचित किया। मराठा-राजवंशों को सत्ताच्युत करके ही उसे सन्तोष नहीं हुआ, अपितु रोती-कलपती रानियों के आभूषणों को छीनने और नीलाम करने में भी उसे कोई संकोच नहीं हुआ।[1] अब धुर दक्षिण की बारी आयी। अर्काट के नवाब और तंजाउर (तंजोर) के राजा धराध्वस्त हुए। यहाँ तक कि पूर्वकृत सन्धियों की पूर्णतया उपेक्षा कर उसने अवध के नवाबों को भी अपमानित एवं तिरस्कृत करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। डलहौजी के अत्याचार उस समय सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं, जब वह अन्तिम पेशवा नाना साहब को मिलनेवाली स्वल्प पेंशन बन्द कर देता है और झांसी की विधवा रानी के राज्य को हड़पने की तैयारी करता है। उस समय तक शायद डलहौजी को यह गुमान भी नहीं था कि नाना और लक्ष्मीबाई की यह जोड़ी ही १८५७ की क्रान्ति का नेतृत्व करेगी।

यह सत्य है कि आपत्तिजनक चर्बी-लगे कारतूसों को मुँह से खोलने के लिए विवश करने के कारण भारतीय सैनिकों में भी असन्तोष फैला, उसी ने क्रान्ति की चिंगारी को भड़काने का काम किया। १० मई १८५७ को मेरठ में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी और धीरे-धीरे दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस और हिमालय की तराई से नर्मदा-तटवर्ती प्रान्त तक का भारत विद्रोह की आग में धू-धू कर जलने लगा। डलहौजी ने तो शायद सोचा था कि वह शीघ्र ही भारत के सम्पूर्ण मानचित्र को ब्रिटिश साम्राज्यसूचक लाल रंग में रंग देगा, किन्तु उसे यह पता नहीं था कि १८५७ में भारतवासी विदेशी शासन को समाप्त करने के

---

१. हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने अपनी अनुपम काव्य-कृति 'झांसी की रानी' में इस प्रसंग को इस प्रकार वर्णित किया है-

रानी रोई रनवासों में, बेगम ग़म थी बेजार ।
उनके गहने-कपड़े बिकते थे कलकत्ते के बाज़ार ।
सरे-आम नीलाम छापते थे अंग्रेजों के अखबार-
'नागपुर के जेवर ले लो ! लखनऊ के लो नौलखहार !,

प्रयत्न में सचमुच अपना ही रक्त बहाकर मातृभूमि के वक्ष को आरक्त कर देंगे।

इधर तो अंग्रेजी शासन सत्ता अपने को सुस्थिर बनाये रखने का प्रयास कर रही थी, उधर उनकी कूटनीतिक चालें आनेवाली शताब्दियों तक भारतवासियों को वैचारिक दासता तथा मानसिक गुलामी में बाँध रखने के मंसूबे बना रही थीं। ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपनी सत्ता के प्रसार के लिए सदा से ही पूर्णतया सोची-विचारी चालों को काम में लाते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत महादेश में यूरोपीय जातियों ने वाणिज्य-लोलुप व्यक्तियों के रूप में प्रवेश किया और मुग़ल शासकों के कृपाप्रसाद से वे अनेक स्थानों पर अपनी व्यावसायिक कोठियाँ खोलने में सफल हुए थे। इसके तुरन्त बाद ही उनमें सत्ता स्थापित करने की लालसा जागृत हुई और वे अपने वाणिज्य व्यवसाय के हितों की सुरक्षा के बहाने सेनाओं के गठन में सफल हो गये। इस प्रकार गोरी जातियों की सामरिक शक्ति धीरे-धीरे सुदृढ़ होती गयी। यह दूसरी बात है कि साम्राज्य-प्रसार की समान लालसा ने अंग्रेजों, पुर्तगीजों, फ्रांसिसियों और डचों को आपस में ही टकराने के लिए विवश किया। अन्ततः डच तो इस देश को छोड़कर इण्डोनेशिया की ओर बढ़े, जबकि पुर्तगालियों और फ्रांसिसियों ने छोटे-छोटे उपनिवेशों पर अपना अधिकार सुरक्षित कर लिया।[१]

जब अंग्रेजी साम्राज्य का भारत में विस्तार हो गया तो इस देश के निवासियों को उनके परम्परागत धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज और विरासत से विमुख करने के लिए ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारत में आकर काम करने की खुली छूट दे दी गई। इतना ही नहीं, जब भारत में शिक्षा प्रचार के लिए कोई नीति निर्धारित करने का समय आया तो गवर्नर-जनरल के सलाहकार लॉर्ड मैकाले ने यह कार्य अपने जिम्मे लिया। अपने इरादों को साफतौर पर प्रकट करते हुए लॉर्ड मैकाले ने १२ अक्टूबर १८३६ को अपनी टिप्पणी में लिखा- "मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा विषयक नीतियों को लागू किया गया तो आगामी ३० वर्षों में बंगाल में एक भी मूर्तिपूजक (अर्थात् हिन्दू) नहीं रहेगा।"[२] मैकाले के इरादों का पता हमें उसके उस बहु उद्धृत वाक्य से भी लगता है जिसमें उसने कहा था कि हमारी शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करना है जो रंग तथा रक्त की दृष्टि से चाहे भारतीय हो, किन्तु रुचियों, धारणाओं तथा आचार-विचार

---

१. फ्रांस ने पाण्डिचेरी, माहे, कारिकल और चन्द्रनगर में अपने उपनिवेश बनाये जबकि पुर्तगाल का अधिकार गोआ, दमन और दीव पर रहा ।

२. It is my firm belief if our plan of education is follwed up here, there would not be a single idolator in Bengal thirty years hence .

की दृष्टि से पूर्णतया अंग्रेज होगा।[1] ईसाई प्रचारकों तथा अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के पृष्ठपोषकों का समान लक्ष्य भारत को ईसाई बनाने का था। 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के अध्यक्ष मैंगल्स ने १८५७ में यहाँ तक कह दिया था कि भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसाइयत की विजय-पताका को सर्वत्र फहराने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण प्रयत्न करना होगा तथा इस महान् कार्य को पूरा करने में किसी भी प्रकार की शिथिलता दिखाना अनुचित है।

ईसाई प्रचारकों के प्रयत्न तथा अंग्रेजी शिक्षा के विस्तार के इच्छित परिणाम शीघ्र ही सामने आने लगे। भारतवासियों में यूरोपीय जीवन-प्रणाली तथा पश्चिमी चिन्तन के प्रति अनुराग बढ़ने लगा जो धीरे-धीरे पाश्चात्यों के अन्धानुकरण की सीमा तक जा पहुँचा। स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वसंस्कृति के प्रति गौरव प्रकट करना तो दूर, उन्होंने विगत काल के प्रोज्ज्वल तथा उदात्त तत्त्वों को भी तुच्छता की दृष्टि से देखना आरम्भ किया। अब उनके लिए पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, जीवन पद्धति तथा यूरोपीय जातियों के विचार तथा चिन्तन ही अनुकरणीय रह गये। हीन भावना और मानसिक दासता की यह पराकाष्ठा थी।

यही वे परिस्थितियाँ थीं, जिनमें उस समय का भारतवासी रह रहा था।

गुजरात प्रान्त के कच्छ नामक एक पिछड़े तथा सीमावर्ती राज्य के माण्डवी कस्बे में १८५७ के इसी क्रान्ति वर्ष में ४ अक्टूबर के दिन श्यामजी कृष्ण वर्मा का जन्म हुआ। इसके पिता का नाम कृष्णजी (सौराष्ट्र के उच्चारण के अनुसार करसनजी) था जो भणशाली जाति के वैश्य थे। पिता की आर्थिक स्थिति अत्यन्त साधारण ही नहीं, अपितु गरीबी के काफी निकट थी। बालक श्यामजी के जन्म से पूर्व ही उनके पिता बम्बई में रहकर जैसे-तैसे जीविका-निर्वाह कर रहे थे। बालक का जन्म भी उसकी ननिहाल के गाँव में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षण के लिए श्यामजी को माण्डवी की प्राथमिक शाला में प्रविष्ट कराया गया। अपनी प्रारम्भिक पढ़ाई के दिनों में ही बालक ने असाधारण प्रतिभा एवं योग्यता का परिचय दिया, अत: आर्थिक दृष्टि से विपन्न होने पर भी उसके पिता ने उसे कच्छ की राजधानी भुज नगर के अंग्रेजी विद्यालय में अध्ययनार्थ भेज दिया। जब श्यामजी १० वर्ष के ही थे, उनकी माता की मृत्यु हो गई। पिता बम्बई में ही जीविकोपार्जन करते थे, अत: किशोर अवस्था में पैर रखने वाले बालक का संरक्षक-पद उसकी नानी ने सँभाला। इसी वृद्ध महिला ने होनहार बालक को भुज के हाईस्कूल में पढ़ाई करने की प्रेरणा दी थी।

---

1. English education would train up a class of persons Indian in blood and colour but English in tastes, in opinions, in morals and intellects.

१८७० तक श्यामजी के जीवन में परिवर्तन की किसी दिशा के संकेत नहीं मिलते। उनके पिता अभी तक बम्बई में ही थे। यदि वे पुत्र की किसी रूप में सहायता करना भी चाहते तो उसका तरीका यही हो सकता था कि वे उसे अपने समीप बम्बई बुला लेते और अपने सहायक के रूप में लगा लेते। परन्तु इस स्थिति में श्यामजी बम्बई के लम्बे-चौड़े व्यवसाय क्षेत्र में इधर-उधर भटकनेवाला एक दलाल या मुनीम ही बनकर रह जाता। उसका कोई ऐसा धनाढ्य सम्बन्धी या शुभचिन्तक भी नहीं था जो उसकी उन्नति में विशेष रुचि लेता या वाणिज्य-व्यवसाय में उसे आगे बढ़ाता। हाँ, यह तो सोचा जा सकता है कि भुज के विद्यालय के इस प्रतिभाशाली विद्यार्थी की असाधारण अध्ययन पटुता एवं योग्यता को देखकर राज्य का ही कोई अधिकारी उसपर दया करता और किसी सरकारी कार्यालय में क्लर्क अथवा किसी स्कूल में अध्यापक के रूप में उसे नियुक्त करा देता। यह किसे पता था कि बम्बई में अपनी रोटी-रोजी जुटाने के लिए रात-दिन संघर्ष की भट्टी में जलनेवाले गरीब वैश्य का यह बालक, जो स्वयं भी देश के सर्वाधिक पिछड़े तथा अन्धकारपूर्ण कोने से बम्बई आया था, एक दिन संस्कृत एवं अंग्रेजी पर असाधारण अधिकार रखने वाला विद्वान् ही नहीं, अपितु ऑक्सफोर्ड-जैसे विश्वविख्यात विश्वविद्यालय का एम० ए० तथा प्रतिभा सम्पन्न प्रथम भारतीय बैरिस्टर बनेगा! यह भी कौन जानता था कि यह साधनहीन किशोर भारत की अनेक रियासतों के दीवान पद को सुशोभित करेगा, समय पाकर राष्ट्रीय आन्दोलनों का नेतृत्व करेगा तथा स्वदेश की स्वाधीनता के लिए सुदूर लन्दन, पैरिस तथा जेनेवा में बैठकर विदेशी सत्ता को हटाने के लिए प्रयत्न करेगा!

बालक श्यामजी के पास तो सहजात प्रतिभा एवं स्वोपार्जित परिश्रम एवं लगन के अतिरिक्त कुछ नहीं था, किन्तु इन्हीं गुणों के बल पर वह पिछड़े कच्छ देश को छोड़कर आधुनिकतम नगर बम्बई की ओर चल पड़ा जहाँ से उसे अपने गन्तव्य की ओर प्रस्थान करना था।

२. बम्बई-आगमन

श्यामजी का बम्बई-आगमन उनके जीवन की एक परिवर्तनकारी घटना थी। पिता का बम्बई के धनाढ्य सेठ-साहूकारों से काफी परिचय था जिनसे वे अपने व्यावसायिक हितों के कारण प्राय: मिला करते थे। इस देश में वाणिज्य क्षेत्र की निकटता पारिवारिक स्तर पर मेलजोल को बढ़ाती है और सामाजिक रिश्तों को प्रगाढ़ करती है। वस्तुत: श्यामजी की असाधारण योग्यता और अध्ययन-पटुता की जानकारी एक उदार एवं परोपकारप्रिय भाटिया सेठ मथुरादास लवजी को मिली और उन्होंने उन्हें बम्बई ले आने का विचार किया। उन्हीं की प्रेरणा से श्यामजी अपनी नानी को लेकर बम्बई आ गये।

बम्बई में श्यामजी को 'विल्सन हाईस्कूल' में प्रवेश मिला। अब तक वे देश के एक पिछड़े इलाके के स्कूल में पढ़ रहे थे। अब श्यामजी को बम्बई जैसे महानगर के उस हाईस्कूल में पढ़ने का अवसर मिला जहां उन्हें शीघ्र ही दक्षिण प्रान्तों तथा कोंकण के प्रतिभाशाली छात्रों के साथ प्रतियोगिता में उतरना था। जब परीक्षा में वे सर्वप्रथम स्थान लेकर उत्तीर्ण हुए तो उनके नाते-रिश्तेदारों को अपार प्रसन्नता हुई।

यह सर्वविदित था कि चाहे श्यामजी अध्ययन में निरन्तर प्रगति करते हुए बम्बई विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा भी उत्तीर्ण कर लेते, तो भी उन्हें सरकार में अच्छी-खासी नौकरी शायद ही मिल पाती। यह भी सम्भव था कि वे वाणिज्य के क्षेत्र में उतरते और इस पेशे में ऊँचे उठ जाते। सच तो यह है कि श्यामजी के जीवन में जो परिवर्तन आया वह उनकी अंग्रेजी शिक्षा के कारण नहीं आया था। उन्हें संस्कृत पढ़ने के लिए सेठ मथुरादास लवजी ने प्रेरित किया। सेठ मथुरादास स्वामी दयानन्द के कट्टर भक्त एवं अनुयायी थे। पण्डित विश्वनाथ शास्त्री की संस्कृत पाठशाला में श्यामजी ने प्रवेश लिया और वे अब तत्परतापूर्वक विश्व की इस सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध भाषा का गहन अध्ययन करने लगे। प्रात: 'विल्सन हाईस्कूल' जाकर उन्हें अपना नियमित अध्ययन करना पड़ता था,

अत: मध्याह्न तथा कभी-कभी सन्ध्या के समय वह शास्त्री जी की पाठशाला में जाते और नियमित रूप से संस्कृत का अध्ययन करते। यह अध्ययन इतना विस्तृत, गम्भीर तथा सांगोपांग था कि १८ वर्ष की आयु में वह अपनी इस योग्यता के कारण नगर के संस्कृतज्ञ विद्वानों तथा सुधारकवर्ग में अपनी धाक जमा चुके थे।[१] संस्कृत भाषा, व्याकरण एवं साहित्य पर असाधारण अधिकार कर लेने के साथ-साथ श्यामजी हाई स्कूल की अपनी पढ़ाई में भी आगे ही रहे। कक्षा में पुन: सर्वोच्च रहने के कारण उन्हें 'सेठ गोकुलदास कहानदास छात्रवृत्ति' मिल गयी। इस छात्रवृत्ति के आधार पर उन्हें बम्बई के श्रेष्ठतम 'एलफिस्टन हाईस्कूल' में प्रवेश मिल गया जो आभिजात्य वर्ग के बालकों की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। इस विद्यालय में भी अपनी पढ़ाई के स्तर को पूर्ववत् रखा। स्वयं की अध्ययन-पटुता तथा प्रतिभा ने उनका परिचय नगर के एक समृद्ध परिवार से कराया जो आगे चलकर उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का कारण बना।

बम्बई के एक धनी सेठ छबीलदास लल्लूभाई का पुत्र रामदास[२] श्यामजी का सहपाठी था। सेठ छबीलदास ने मैन्चेस्टर के माल को बम्बई में बेचकर बेशुमार धन एकत्रित किया था। एक दिन अचानक उसने अपने पुत्र से पूछा कि उसकी कक्षा में सर्वाधिक प्रतिभाशाली छात्र कौन है? स्वाभाविक था कि रामदास के मुँह से श्यामजी का नाम ही निकलता। अब सेठ ने पुत्र से आग्रह किया कि वह किसी दिन श्यामजी को घर लेकर आये।

श्यामजी अपने सहपाठी रामदास के आग्रह को स्वीकार कर उसके घर आये। सेठ छबीलदास से भी उनकी भेंट हुई और परिवार में उनका आना-जाना बढ़ता ही गया। कुछ समय पश्चात् सेठ छबीलदास के मन में अपनी कन्या भानुमति का विवाह श्यामजी से कर देने का विचार उत्पन्न हुआ। इस विचार को मूर्त्त रूप देने से पहले उदार विचारों वाले सेठ ने अपनी पुत्री की राय ले लेना आवश्यक समझा। किशोरी भानुमति ने तो श्यामजी को घर में कई बार देखा ही

---

१. श्यामजी को 'अष्टाध्यायी' कण्ठस्थ थी तथा वे इस ग्रन्थ के सूत्र को अनायास उद्धृत कर सकते थे। 'अष्टाध्यायी' का यह अध्ययन उन्होंने बम्बई में स्वामी दयानन्द से किया था।

२. रामदास भी उच्च शिक्षित थे। उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बार-एट लॉ तथा बी० सी० एल० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की थीं। स्वामी दयानन्द के निधन पर उन्होंने अपनी शोकाञ्जलि अर्पित करते हुए संस्कृत भाषा में २० पद्यों की रचना की थी। उनके द्वारा रचित 'पद्मिनी' चम्पू १८८८ ई० में प्रकाशित हुआ था।

था और वह इस किशोर के शील स्वभाव, सौजन्य तथा विनम्रता से परिचित थी, अत: उसने विवाह के लिए मौन स्वीकृति पिता को दे दी। फलत: १८७५ में सेठ छबीलदास की लाडली बेटी भानुमति के साथ श्यामजी परिणय बन्धन में बँध गये।

श्यामजी की संस्कृत तथा अंग्रेजी की योग्यता निरन्तर बढ़ रही थी। सेठ मथुरादास ने उनका परिचय बम्बई के सुधारक-वर्ग के अनेक माननीय पुरुषों से करा दिया। उन दिनों महाराष्ट्र में 'प्रार्थनासमाज' के द्वारा धर्म-संशोधन तथा समाज-सुधार का कार्य प्रबल वेग से हो रहा था। नारी शिक्षा को प्रोत्साहन देने, विधवाओं के पुनर्विवाह को सामाजिक स्वीकृति दिलवाने तथा अस्पृश्यता एवं जाति बन्धन को समाप्त कराने में सुधारक लोग प्राणपण से जुटे हुए थे। सर्व-साधारण में सुधार-कार्यों को तब तक स्वीकृति और लोक-प्रियता नहीं मिलती जब तक कि जन-समाज को यह आश्वासन नहीं दिला दिया जाता कि सुधार के ये सभी कार्य शास्त्रों के अनुकूल हैं तथा उन्हें क्रियान्वित करने में किसी भी प्रकार की परम्परा का विरोध नहीं होता। हिन्दू धर्म के शास्त्र-ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं जहाँ तक सर्वसाधारण की पहुँच नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक संस्कृत भाषा के पठन-पाठन का अधिकार ब्राह्मणों तक ही सीमित रहा और अपने इस परम्परा प्राप्त अधिकार का प्रयोग करते हुए वे शास्त्र-वाक्यों की मनोनुकूल व्याख्या करते रहे। शास्त्रों का व्याख्याकार पुराणग्रन्थी पण्डित-समुदाय सुधार-कार्यों का सहज विरोधी था, अत: महाराष्ट्र के सुधारक वर्ग के समक्ष एक बड़ी समस्या यह थी कि शास्त्रों की युगानुकूल व्याख्या क्यों और कैसे कराई जाये ताकि आम आदमी उससे सहमत हो सके और सामाजिक सुधार का काम आगे बढ़े। ऐसी परिस्थिति में युवक श्यामजी जैसे संस्कृतज्ञ का सुधारक-वर्ग के निकट आना और उनके साथ रहकर सामाजिक प्रगति के कार्यों में योग देना महत्त्वपूर्ण था।

१८७५ का वर्ष श्यामजी के लिए अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसी वर्ष वे सेठ छबीलदास की पुत्री के साथ विवाह बन्धन में बँध चुके थे। यह उनके वैयक्तिक जीवन की एक उपलब्धि मानी जा सकती है। १८७५ में ही 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' के संस्कृत-प्रोफैसर मोनियर विलियम्स[१] से

१. प्रो० मोनियर विलियम्स 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' में संस्कृत के प्रोफेसर थे। उनके द्वारा रचित 'संस्कृत-अंग्रेजी कोश' उपयोगी ग्रन्थ है। उन्होंने एक अन्य ग्रन्थ Indian Wisdom भी लिखा था।

उनकी भेंट हुई जब वह भारत की यात्रा पर आये थे। उन्होंने श्यामजी की संस्कृत-भाषा में असाधारण योग्यता और नैपुण्य देखा तो उनसे प्रभावित हुए। इस भेंट के दो वर्ष पश्चात् उन्होंने श्यामजी के समक्ष ऑक्सफोर्ड आकर उनके सहायक के रूप में कार्य करने का प्रस्ताव भी रख दिया था।

परन्तु श्यामजी की स्वामी दयानन्द सरस्वती से हुई भेंट का कहीं अधिक महत्त्व है। १८७४ के अक्टूबर मास में स्वामी दयानन्द बम्बई आये थे और उनके इस प्रथम दीर्घकालीन प्रवास की फलश्रुति १० अप्रैल १८७५ को आर्यसमाज की स्थापना के रूप में हुई। उन दिनों बम्बई का तत्कालीन भाटिया-समाज वल्लभाचार्य-प्रवर्तित वैष्णव मत के महन्तों और पीठाधीशों की दुराचारपूर्ण कार्यवाहियों से अत्यन्त रुष्ट तथा क्षुब्ध था। बम्बई के धनी भाटिया लोग अधिक संख्या में इसी मत के अनुयायी थे। करसनदास मूलजी नामक एक भाटिया ने विगत शताब्दी के छठे दशक में वैष्णव मत के महाराजों की व्यभिचारपूर्ण लीलाओं का भण्डाफोड़ किया। इससे रुष्ट होकर एक वैष्णव महाराज ने करसनदास मूलजी पर अदालत में मानहानि का अभियोग दायर कर दिया। उस समय बम्बई के सार्वजनिक जीवन में इस मुकद्दमे की पर्याप्त चर्चा रही थी।[१] यहाँ यह स्मरणीय है कि स्वामी दयानन्द को बम्बई आमन्त्रित करनेवालों में प्रमुख धर्मसी खीमजी नामक एक व्यक्ति भाटिया जाति के ही थे जो वल्लभ-मत के आचार्यों के दुराचारपूर्ण कृत्यों से अत्यन्त खिन्न थे और चाहते थे कि स्वामी जी जैसे प्रमुख धर्म-सुधारक बम्बई आकर महाराजों की इन अनाचार-लीलाओं पर उग्र प्रहार करें।

स्वामी दयानन्द से श्यामजी की प्रथम भेंट अत्यन्त प्रेरणास्पद तथा उत्साहप्रद रही। वे स्वामी जी के दृढ़ अनुयायी बन गये। उन्हें इस अवधि में स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व, चरित्र तथा विचारों को निकटता से देखने का अवसर मिला और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि भारत देश तथा यहाँ के निवासी अपनी समस्याओं का कोई समाधान तलाशना चाहते हैं तो उन्हें स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित विचारों एवं कार्य पद्धति का ही अनुसरण करना होगा। स्वामी दयानन्द के सम्पर्क तथा उनके विचारों ने श्यामजी के जीवन को कौन सी नवीन दिशा प्रदान की, यह तो हम आगे चलकर देखेंगे, किन्तु यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि उनके विचारों और मान्यताओं में जो दृढ़ता आई, उसका प्रमुख कारण स्वामी दयानन्द का प्रभाव ही था।

---

१. यह अभियोग 'महाराज लाइबेल केस' के नाम से जाना जाता है।

३. देशभ्रमण और धर्मप्रचार

इसी बीच श्यामजी के नेत्रों में अचानक एक कष्ट उभर आया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपनी मैट्रिक की परीक्षा की तैयारी भली प्रकार नहीं कर सके और उन्हें असफलता का मुँह देखना पड़ा। श्यामजी के लिए परीक्षा में असफल हो जाना एक दुखद प्रसंग था, किन्तु वे निराश नहीं हुए और पूर्व की ही भाँति बम्बई के सार्वजनिक जीवन में निरन्तर अग्रसर होते गये। स्वामी दयानन्द तथा उनके बम्बई निवासी अनुयायियों से श्यामजी का सम्बन्ध प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होता जा रहा था। स्वामी जी के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रति उनकी अविचल निष्ठा थी। अब स्थानीय आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता चाहने लगे कि श्यामजी को शीघ्रातिशीघ्र धर्मप्रचार के कार्य में कूद पड़ना चाहिए, क्योंकि उन-जैसा संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ उस समय आर्यसमाज के क्षेत्र में चिराग लेकर ढूँढ़ने से भी मिलना कठिन था।

श्यामजी ने भी प्रचारार्थ देशभ्रमण की योजना बनाई। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी, परन्तु संस्कृत भाषा पर अपने असाधारण अधिकार तथा शास्त्रों में गहरी पैठ होने के कारण उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि आम लोग तो उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनेंगे ही, विद्वत्वर्ग भी उनके कथन की उपेक्षा नहीं कर सकेगा।

इसी अप्रतिम आत्मविश्वास तथा दृढ़ धारणा के साथ मार्च १८७७ के अन्त में वे दक्षिण की काशी नासिक में आये। यहाँ एक व दो अप्रैल को उनके दो व्याख्यान संस्कृत में हुए। इन व्याख्यानों में विद्वान् वक्ता ने धर्म के मूलभूत तत्त्वों का मार्मिक विश्लेषण करने के साथ-साथ तत्कालीन धर्म तथा समाज में सुधार की आवश्यकता बतलाई। नासिक के पण्डितों की धारणा थी कि सम्भवत: महाराष्ट्रदेशीय विद्वानों के तुल्य संस्कृत पर असाधारण अधिकार रखते हुए अपने विचारों को व्यक्त करने वाले व्यक्ति देश में नगण्य ही होंगे, परन्तु उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा जब उन्होंने देखा कि २१ वर्ष का यह गुजराती वैश्य

युवक अधिकारपूर्ण तथा प्रभावी स्वर में संस्कृत-सम्भाषण कर रहा है। रायबहादुर गोपालराव हरि देशमुख[१] उस समय नासिक आर्यसमाज के प्रधान थे और उन्होंने ही श्यामजी के व्याख्यानों की व्यवस्था भी की थी। वे उस समय नासिक में प्रथम श्रेणी के न्यायाधीश-पद पर कार्यरत थे।

बम्बई में प्रो० मोनियर विलियम्स की भेंट ने श्यामजी के मन में ऑक्सफोर्ड जाकर अध्ययन का विचार दृढ़ता से आरोपित कर दिया था। अब श्यामजी के कहने पर न्यायाधीश देशमुख ने एक पत्र प्रो० विलियम्स को लिखा जिसमें उन्होंने इस युवक के संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार तथा उसकी अलौकिक प्रतिभा एवं योग्यता की चर्चा करने के पश्चात् यह निवेदन किया कि वे यथाशीघ्र श्यामजी को ऑक्सफोर्ड आने के लिए आमन्त्रित करें।

श्यामजी ने अपना ऑक्सफोर्ड जाने का विचार स्वामी दयानन्द तक पहुँचा दिया। उत्तर में स्वामी जी ने आशीर्वाद भेजते हुए आशा प्रकट की कि श्यामजी की विदेश यात्रा उनकी लक्ष्यपूर्ति में सहायक होगी।[२] इधर देशमुख द्वारा भेजे गये पत्र का उत्तर भी आ गया जिसमें मोनियर विलियम्स ने श्यामजी को अपने सहायक के रूप में ऑक्सफोर्ड आने की आज्ञा दे दी थी। नासिक की यात्रा समाप्त कर श्यामजी मई के प्रथम सप्ताह में पुणे आये। यहाँ भी उनके व्याख्यान विद्वन्मण्डली द्वारा प्रशंसित हुए। पुणे के विद्वानों की ओर से उन्हें एक प्रशंसा पत्र भेंट किया गया जिसमें उनके संस्कृत-भाषा के प्रौढ़ ज्ञान की प्रशंसा के साथ यह आशा प्रकट की गई थी कि वे शीघ्र ही यूरोप की यात्रा कर अपने अध्ययन को पूरा करेंगे। इस प्रशंसापत्र पर हस्ताक्षर करनेवालों में प्रसिद्ध समाज- सुधारक महादेव गोविन्द रानडे के अतिरिक्त 'पूना सार्वजनिक सभा' के मन्त्री गणेश वासुदेव जोशी, तथा पं० कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर जैसे विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं।

नासिक तथा पुणे में दिये गये इन व्याख्यानों ने श्यामजी को राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' जैसे विख्यात् पत्र ने अपने २२ मई १८७७ के अंक में श्यामजी की संस्कृत योग्यता तथा वक्तृत्व-कला की

१. पण्डित गोपालराव हरि देशमुख (१८२३-१८९३) महाराष्ट्र के प्रसिद्ध समाज-सुधारक तथा लेखक थे। वे 'लोकहितवादी' के नाम से जाने जाते हैं। स्वामी दयानन्द के प्रति उनकी अविचलित निष्ठा थी।

२. १५ जुलाई १८७८ को लिखा गया स्वामी दयानन्द का पत्र- "हमने सुना है कि आपका इरादा संस्कृत पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड जाने का है। सो यह विचार बहुत अच्छा है।"

प्रशंसा करते हुए उन्हें धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र के सुधारकों में सर्वथा योग्य तथा समर्थ बतलाया। मई के अन्तिम सप्ताह में वे अहमदाबाद गये। यहाँ भी विद्वत्समाज के सम्मुख उनका एक प्रभावशाली व्याख्यान हुआ। उसे सुनकर भोलानाथ साराभाई जैसे अहमदाबाद के सुधारवादी नागरिक का प्रसन्न होना स्वाभाविक था, किन्तु इस नगर के पुराणपन्थी पण्डित-वर्ग ने भी श्यामजी के संस्कृत-भाषा पर असाधारण अधिकार तथा भाषण-क्षमता को लक्ष्य में रखकर उनकी श्लाघा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। जून के महीने में वे बड़ौदा, भड़ौच तथा सूरत गये जहाँ पण्डित तथा सुधारक-वर्ग ने समान रूप से उनका अभिनन्दन किया।

जुलाई १८७७ में वे बम्बई आ गये तथा अक्टूबर तक 'फोर्ट हाईस्कूल' के छात्रों को संस्कृत का विशिष्ट अध्ययन कराते रहे। इसी बीच प्रो० मोनियर विलियम्स का पत्र न्यायाधीश देशमुख के नाम आया जिसमें उन्हें सूचित किया गया था कि श्यामजी को १८७७ के अन्त अथवा १८७८ के आरम्भ में इंग्लैण्ड आ जाना चाहिए। यह सूचना मिलते ही श्यामजी को यूरोप-प्रवास के लिए धन जुटाने की चिन्ता हुई। प्रो० विलियम्स ने अपने सहायक के रूप में उन्हें जो वेतन देने का संकेत दिया था, वह इतना अपर्याप्त था कि उसके द्वारा इंग्लैण्ड जैसे देश में रहकर सुव्यवस्थित जीवन-यापन करना कठिन था। इधर श्यामजी का यह विचार था कि वे इंग्लैण्ड में कानून का अध्ययन करेंगे तथा 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' की परीक्षा उत्तीर्ण करने के साथ-साथ बैरिस्ट्री की परीक्षा भी देंगे।

यात्रा के लिए धन एकत्रित करने हेतु जब उन्होंने अपनी दृष्टि इधर-उधर दौड़ाई तो उनका ध्यान अपने राज्य कच्छ की ओर ही गया। क्या वे कच्छ राज्य से छात्रवृत्ति प्राप्त नहीं कर सकते? इस विचार के आते ही श्यामजी ने कच्छ के पोलिटिकल एजेंट की सेवा में एक प्रार्थनापत्र भेजा, परन्तु कोई इच्छित परिणाम नहीं निकला। अब उन्होंने गोपालराव हरि देशमुख से एक पत्र राज्य के दीवान के नाम लिखवाया। उत्तर में चतुर प्रशासक ने इस बात के लिए श्यामजी की प्रशंसा की कि वे इंग्लैण्ड जाकर ज्ञानोपार्जन करना चाहते हैं, किन्तु आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में उन्होंने मौन साध लिया। जब प्रार्थनापत्रों और सिफारिशों का कोई इच्छित परिणाम नहीं निकला तो उन्होंने सोचा कि रियासत के अधिकारियों से पत्राचार करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उन्हें अपनी संस्कृत योग्यता का परिचय भी देना होगा। इसी विचार को लेकर १८७८ के शीतकाल

में वे अपनी मातृभूमि कच्छ की ओर प्रस्थित हुए। राजधानी भुज में उन्होंने प्रभावशाली संस्कृत-भाषण दिया जिसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई। यहाँ से वे अपने मूल निवासस्थान माण्डवी गये। यहाँ भी संस्कृत में उनका एक व्याख्यान हुआ। कच्छ के दीवान तो श्यामजी का व्याख्यान सुनने के लिए ही विशेष रूप से माण्डवी आये। यद्यपि अभी भी रियासत की ओर से उनको विदेश जाने के लिए सहायता का कोई निश्चित आश्वासन नहीं मिला था, उनके व्याख्यान से उसकी आधारभूमि तैयार हो ही गई।

यहाँ हम एक अन्य प्रसंग को पहले ले लें। जिस वर्ष में भारत के बम्बई महानगर में स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की थी, उसी १८७५ के वर्ष में अमेरिका के न्यूयार्क नगर में कर्नल एच० एस० ऑल्काट तथा श्रीमती एच० पी० ब्लैवेट्स्की के द्वारा 'थियोसॉफिकल सोसायटी' की स्थापना की गई। कर्नल ऑल्काट को स्वामी दयानन्द का प्रथम परिचय मूलजी ठाकरसी नामक एक गुजराती ने दिया था जबकि १८७० में ये दोनों व्यक्ति अमेरिका जा रहे थे। इसके ५ वर्ष पश्चात् जब सोसायटी की स्थापना हो गई तो इसके संस्थापकों ने स्वामी दयानन्द से विस्तृत पत्र-व्यवहार किया और अपनी संस्था को भारतवर्षीय आर्यसमाज की एक शाखा की रूप में स्वीकार कर लेने का आग्रह किया। जब स्वामी दयानन्द को थियोसॉफिकल सोसायटी के संस्थापकों के एतद्-विषयक विचारों की जानकारी मिली तो वे यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए कि पश्चिमी देशों के प्रबुद्ध लोग भी भारत की पुरातन संस्कृति एवं विचारधारा के प्रति इतना सम्मान का भाव रखते हैं। उन्होंने थियोसॉफिस्टों के पत्र का उत्तर देते हुए उन्हें 'पातालदेशवासी भाई' कहकर सम्बोधित किया।[१] इस पत्र में उन्होंने आर्यसमाज के नियमों का अंग्रेजी-अनुवाद श्यामजी से करवाकर अमेरिका-निवासी थियोसॉफिस्ट नेताओं को भेजा। स्वामी दयानन्द का कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की से जो पत्राचार होता था, उसमें श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि (प्रधान, आर्यसमाज बम्बई) माध्यम का काम करते थे। वे ही स्वामी जी के अभिप्राय से इन लोगों को अवगत कराते। आगे चलकर आर्यसमाज तथा 'थियोसॉफिकल सोसायटी' के पारस्परिक सम्बन्धों में जो उतार-चढ़ाव आये, वे हमारे प्रकृत विषय के बाहर है, किन्तु यहाँ यह लिखना आवश्यक है कि श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि की प्रेरणा से ही श्यामजी भी इस सोसायटी के सभासद् बन गये थे।

---

१. यह पत्र संस्कृत भाषा में २६ जुलाई १८७८ को लिखा गया था।

जब श्रीमती ब्लैवेट्स्की को श्यामजी के ऑक्सफोर्ड जाने का पता चला तो उसने हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को एक पत्र लिखकर उस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि क्या स्वामी दयानन्द जैसे विख्यात वेदज्ञ का शिष्य प्रो० मोनियर विलियम्स जैसे साधारण संस्कृतज्ञ के पास आकर कुछ विशेष लाभ उठा सकेगा? उसने श्यामजी को भी पत्र लिखा और यह स्पष्ट किया कि प्रो० विलियम्स ही उसकी योग्यता का लाभ उठायेंगे तथा उससे किसी ग्रन्थ का सम्पादन भी करायेंगे, जिसमें परिश्रम तो श्यामजी का होगा, जबकि लेखक के रूप में नाम प्रो० विलियम्स का छपेगा। उसने श्यामजी को इस बात के लिए भी आगाह किया कि क्या प्रो० विलियम्स द्वारा प्रस्तावित स्वल्प वेतन में वे इंग्लैण्ड जैसे महँगे देश में रह सकेंगे? मैडम ब्लैवेट्स्की की सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि क्या स्वामी दयानन्द जैसे विश्व-विश्रुत वैदिक विद्वान् के शिष्य को मोनियर विलियम्स जैसे साधारण संस्कृतज्ञ का सहायक बनना चाहिए?[१]

श्रीमती ब्लैवेट्स्की का यह पत्र पाकर एक बार तो श्यामजी पशोपेश में पड़ गए। परन्तु वे इस बात से आश्वस्त थे कि स्वयं स्वामी दयानन्द ने ही उन्हें इंग्लैण्ड जाने के लिए अपने पूर्व पत्र में प्रोत्साहित किया था। अपने एक जुलाई १८७८ के पत्र[२] में स्वामी जी ने उन्हें यह अवश्य लिख दिया था कि जब वे इंग्लैण्ड जायें तो वहाँ के लोगों को इतना अवश्य स्पष्ट कर दें कि अब तक स्वामी जी के निकट रहकर वेदों का अध्ययन करने का अवसर उन्हें नहीं मिला है और यह भी कि वे एक भारतीय युवक छात्र के रूप में ही ऑक्सफोर्ड आये हैं।

सितम्बर १८७८ के मध्य में वे बनारस आये। यहाँ 'बनारस कॉलेज' के सभागार में उन्हें संस्कृत में एक वक्तृता देने का अवसर मिला। एक स्थानीय पत्र ने अपने १२ तथा १३ सितम्बर के अंकों में श्यामजी के इस भाषण की प्रभूत प्रशंसा की। 'कारमाइकेल पुस्तकालय' में दूसरे दिन उन्होंने अंग्रेजी में भाषण दिया। संस्कृत-भाषा तथा हिन्दू धर्म के इस केन्द्र-स्थान में अपनी अद्भुत व्याख्यान-कला द्वारा प्रशंसा अर्जित करने के अनन्तर श्यामजी आर्यसमाज की

---

१. And what would become of the respect due to our Swamiji if people in England know that the favourite pupil of the revered founder of Arya Samaj was serving in that capacity a professor who does not even belong to the first class scholars.

२. मूल पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ ९३ पर छपा है।

प्रवृत्तियों के शीर्ष केन्द्र लाहौर पहुँचे। यहाँ उनके भाषण हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में हुए जिनकी सर्वत्र प्रशंसा की गई। आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री ने एक प्रशंसा पत्र श्यामजी को अर्पित किया जिसमें उनकी व्याख्यान-कला तथा सुधार-कार्य के प्रति निष्ठा की प्रशस्ति गाई गई थी।

इस प्रवास-यात्रा को समाप्त कर १८७८ के अन्त में वे बम्बई लौट आये। इस अवधि में उन्हें सर्वत्र आदर एवं प्रशंसा तो मिली, किन्तु इंग्लैण्ड की यात्रा के लिए वे अभी तक आर्थिक सहायता नहीं जुटा सके थे। उन्हें आशा की एक क्षीण रेखा अपनी कच्छ रियासत की ओर दिखाई दे रही थी, किन्तु न्यायाधीश देशमुख से प्राप्त एक पत्र ने उनकी इस रही-सही आशा पर भी पानी फेर दिया जिसमें श्यामजी को कच्छ राज्य के अधिकारियों द्वारा भेजी गई खबर दी गई थी कि इंग्लैण्ड जाने में उन्हें किसी भी प्रकार की सहायता देने में यह राज्य असमर्थ है। परन्तु श्यामजी का निश्चय भी उतना ही दृढ़ था। जब सब ओर से निराश होने की घड़ी उपस्थित हुई, तो उन्होंने अपनी सहधर्मिणी से कुछ रुपया लिया और "एस० एस० इण्डिया" नामक जहाज पर सवार होकर मार्च १८७९ के अन्त में वे इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान कर गये।

इंग्लैण्ड जाने के पहले तक श्यामजी का निवास बम्बई में ही रहा था। इस अवधि में उन्हें स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य का मुद्रण कराने का काम अपनी देखरेख में कराना पड़ा। इस प्रसंग को हम आगामी अध्याय में किंचित् विस्तारपूर्वक उपस्थित कर रहे हैं।

४. स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य की मुद्रण-व्यवस्था

श्यामजी कृष्ण वर्मा पर स्वामी दयानन्द की वैदिक विचारधारा का अमिट प्रभाव पड़ा था और वे उन्हें अपना गुरु मानते थे। स्वामी दयानन्द ने वेदों के वास्तविक अर्थों को संसार में फैलाने की दृष्टि से १८७७ ईसवी में वेदों पर भाष्य लिखने का संकल्प किया और उसे शीघ्र क्रियान्वित करने की योजना बना डाली। सर्वप्रथम उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' ग्रन्थ लिखकर वेद के विषय में स्वमत को विस्तारपूर्वक प्रकट किया और यह स्पष्ट किया कि उनके द्वारा किया जानेवाला वेद-भाष्य वेदार्थ की प्राचीन निरुक्ताश्रित प्रणाली का ही अनुकरण करेगा। इस प्रकार वेदार्थ के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा को स्पष्ट करने के पश्चात् उन्होंने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के भाष्य लेखन का कार्य आरम्भ किया। वेद-भाष्य के मुद्रण के लिए स्वामी जी ने 'निर्णयसागर प्रेस बम्बई' को चुना तथा छपाई में सहयोग देने के लिए आर्यसमाज बम्बई के प्रधान हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से अनुरोध किया।

स्वामी दयानन्द के पत्र-व्यवहार का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में तो श्री चिन्तामणि ने वेद-भाष्य-मुद्रण के कार्य में ठीक-ठीक प्रकार से सहयोग दिया, किन्तु कालान्तर में वे इस व्यवस्था को भली प्रकार सँभाल नहीं सके। अपने एक पत्र में उन्होंने (स्वामी जी ने) श्यामजी को इस बात का निर्देश दिया था कि वे चिन्तामणि से हिन्दी जाननेवाला एक लिपिक नियुक्त करने के लिए कहें। उनको इस बात की शिकायत मिली थी कि वेद-भाष्य के ग्राहकों के पते देवनागरी में नहीं लिखे जाते। १४ अक्टूबर १८७८ को लिखे गये अपने पत्र में उन्होंने श्यामजी को वेद-भाष्य-विषयक पत्र-व्यवहार करने का दायित्व ले लेने के लिए कहा। आगे जब उन्होंने अनुभव किया कि हरिश्चन्द्र चिन्तामणि का वेदभाष्य-विषयक प्रबन्ध नितान्त असन्तोषपूर्ण है तो उन्होंने २२ अक्टूबर १८७८ के पत्र में श्यामजी को ही एतद्-विषयक समस्त व्यवस्थायें अपने हाथों में ले लेने का आग्रह किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में चिन्तामणि को भी लिख दिया कि

वे वेद-भाष्य का प्रबन्ध श्यामजी के सुपुर्द कर दें। चिन्तामणि ने वेद-भाष्य-प्रबन्ध अविलम्ब श्यामजी को दे देने में आनाकानी की। शायद उनकी यह धारणा थी कि ऐसा करने में उनकी बदनामी होगी, क्योंकि प्रबन्ध व्यवस्था का जल्दी-जल्दी बदला जाना भी अनेक शंकायें उत्पन्न करता है। जब चिन्तामणि ने वेद-भाष्य का मुद्रण-प्रबन्ध श्यामजी को देने में विलम्ब किया तो स्वामी दयानन्द ने अपने विश्वासपात्र पं० गोपालराव हरि·देशमुख को लिखा कि वे बम्बई जाकर चिन्तामणि को समझावें ताकि वह श्यामजी को प्रबन्ध-भार सौंप दें। इसकी सूचना उन्होंने २० नवम्बर १८७८ को एक पत्र लिखकर श्यामजी को भी दे दी।

अन्ततः वेद-भाष्य के मुद्रण एवं प्रकाशन का कार्य पण्डित श्यामजी पूर्ण दायित्व के साथ सँभालने लगे। इस कार्य में उनकी सहायता करने के लिए स्वामी जी ने राजस्थान के एक सुपठित एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति मुन्शी समर्थदान को बम्बई भेजा। एक मार्च १८७९ को लिखे श्यामजी के नाम पत्र में स्वामी जी ने समर्थदान-विषयक जानकारी उन्हें दी तथा इस व्यक्ति के निवासादि का प्रबन्ध करने के लिए उन्हें लिखा। इस समस्त पत्र-व्यवहार का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्यामजी ने अपने बम्बई निवास के समय स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य के मुद्रणादि में यथोचित सहयोग किया था। स्वामी जी का अपने इस योग्य एवं विद्वान् शिष्य के प्रति जैसा स्नेह एवं विश्वास का भाव था, वह इन पत्रों से भलीभाँति विदित हो जाता है।

५. ऑक्सफोर्ड में अध्ययन

१८७९ वर्ष के अप्रैल के मध्य में श्यामजी लिवरपूल पहुँचे। यहाँ आने पर उन्हें प्रो० मोनियर विलियम्स का एक निराशाजनक पत्र मिला। प्रोफेसर ने अपने पत्र में यह स्पष्ट किया था कि उनकी ओर से ऑक्सफोर्ड आकर सहायक का पद ग्रहण कर लेने की अन्तिम अवधि मार्च १८७८ तक ही थी, जब उक्त तिथि तक श्यामजी इंग्लैण्ड नहीं पहुँचे, तो प्रो० विलियम्स की ओर से उन्हें नियुक्त करने की बात समाप्त हो जाती है। पत्र में उन्होंने यह भी पूछा था कि इस तथ्य से परिचित होते हुए भी उन्होंने जलयान 'एस० एस० इण्डिया' से इंग्लिस्तान के लिए क्यों प्रस्थान किया? तथापि इस पत्र में श्यामजी के लिए आशा की एक क्षीण झलक भी थी और वह यह कि प्रोफेसर ने उन्हें लिवरपूल से ऑक्सफोर्ड आकर उनसे मिलने की बात लिख दी थी।

अब वे ऑक्सफोर्ड पहुंच गये। प्रो० मोनियर विलियम्स ने अन्ततः उन्हें अपने सहायक के रूप में नियुक्त करने की स्वाकृति दे दी। उनका वेतन एक पौण्ड पाँच शिलिंग प्रति सप्ताह निश्चित हुआ। २१ अप्रैल १८७९ को उन्होंने प्रोफेसर के सहायक का कार्यभार सँभाला। इसके साथ ही उन्होंने विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया और वे 'बेलॉइल कॉलेज' के विद्यार्थी बन गये। इंग्लैण्ड रहकर वे बैरिस्ट्री की परीक्षा पास करने के लिए पहले से ही तीव्र इच्छुक थे। इसी योजना के अनुसार उन्होंने 'इनर टेम्पल' की प्रारम्भिक प्रवेश-परीक्षा पास कर ली तथा २१ जून १८७९ को 'इनर टेम्पल' में प्रविष्ट हो गये।

उच्चतर अध्ययन की सुविधा उन्हें मिल गयी, किन्तु अभी भी इंग्लैण्ड-जैसे महँगे देश में रहकर जीवन-निर्वाह करने योग्य आर्थिक संबल वे नहीं जुटा पाये थे। अब उन्होंने प्रो० विलियम्स से अनुरोध किया कि वे बम्बई के गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पल को एक पत्र लिखें तथा उन्हें प्रेरणा करें जिससे कि वे अपना प्रभाव काम में लाकर कच्छ के पोलिटिकल एजेंट के माध्यम से कच्छ राज्य को उनकी सहायता करने के लिए तैयार कर सकें।

उनके इस प्रयत्न का इच्छित परिणाम निकला। ५ अगस्त १८७९ को सर रिचर्ड ने प्रो० विलियम्स को सूचित किया कि उन्होंने श्यामजी की आर्थिक सहायता करने के लिए सम्बन्धित व्यक्ति से पुरजोर सिफारिश का दी है। २४ सितम्बर को कच्छ के दीवान का पत्र श्यामजी को मिला जिसमें उन्हें सूचित किया गया कि तीन वर्षों के लिए उन्हें १०० पौंड वार्षिक की छात्रवृत्ति राज्य से मिलती रहेगी।

स्वयं श्यामजी भी स्वावलम्बन का पाठ पढ़ चुके थे। ऑक्सफोर्ड में उन्होंने दो अंग्रेजी छात्रों को संस्कृत पढ़ाना आरम्भ किया जो इसके लिए उन्हें पारिश्रमिक के रूप में ५० पौण्ड वार्षिक देते थे, सप्ताह में दो दिन उन्हें ग्रीक तथा लैटिन भी पढ़ाते थे। इस प्रकार आर्थिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर श्यामजी ने अपने-आपको पूर्णतया पठन-पाठन में लगा दिया। इसी बीच 'बेलॉइल कॉलेज' में उन्होंने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की, साथ ही वे इसी विश्वविद्यालय में संस्कृत, मराठी तथा गुजराती भाषाओं के अध्यापन का कार्य भी करते रहे।

श्यामजी की अध्ययन-विषयक योग्यतायें तथा उपलब्धियाँ नगण्य नहीं थीं। 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' ने १८८१ के आरम्भ में उन्हें 'भारत में लेखन-कला का प्रारम्भ' विषय पर अपना शोधपत्र पढ़ने के लिए आमन्त्रित किया। १८८१ के शीतकाल में भारत-मन्त्री ने उन्हें प्राच्यविद्या-विशारदों के बर्लिन-सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत के प्रतिनिधि के रूप में भेजा। यहाँ उन्होंने अपने विख्यात शोधपत्र[१] 'संस्कृत: भारत की जीवित भाषा' को प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने पश्चिमी देशों में प्रचलित इस धारणा का तीव्र खण्डन किया था कि संस्कृत एक मृत भाषा है तथा भारत में उसे वैसी ही मृत भाषा समझा जाना चाहिए जैसाकि यूरोप में लैटिन तथा ग्रीक को समझा जाता है। अपने इस महत्त्वपूर्ण शोधपत्र का वाचन समाप्त करने से पूर्व श्यामजी ने स्वामी दयानन्द की चर्चा करते हुए बताया कि वे छोटे बालकों से भी संस्कृत में भाषण करते थे और यही इस भाषा की लोकप्रियता का प्रमाण है। स्वयं के अनुभवों का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि उनके मित्र, जो भारत के विभिन्न भागों में रहते हैं, उनसे संस्कृत में ही अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। यदि संस्कृत और हिन्दी- जैसी भाषाएँ भारतवासियों के विचार-परिवर्तन का माध्यम न होतीं तो इस देश के निवासियों का पारस्परिक संवाद ही बन्द हो

१. इस शोधपत्र का सारांश परिशिष्ट (१) में देखिये।

गया होता क्योंकि इस महादेश के लोगों के द्वारा बोली जानेवाली प्रान्तीय और क्षेत्रीय बोलियों की संख्या तो गणनातीत है।

श्यामजी के इस महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्ध का बर्लिन में आयोजित प्राच्यविद्या-विशारदों के इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में इच्छित प्रभाव पड़ा। भारत-मन्त्री युवक विद्वान् श्यामजी की योग्यता तथा प्रतिभा से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने १८८३ में लंदन में आयोजित आगामी वर्ष की 'प्राच्य विद्या महासभा' के लिए उन्हें भारत के प्रतिनिधि के रूप में भेजने का पुनः निश्चय कर लिया।

श्यामजी की संस्कृत-विषयक योग्यता की धाक इंग्लैण्ड के समस्त विद्वत्-समुदाय तक फैल चुकी थी। अब उनके मन में विचार आया कि क्यों न वे लंदन के 'यूनीवर्सिटी कॉलेज' में संस्कृत के प्रोफेसर पद के लिए आवेदन करें! उन्होंने तदनुकूल अपना आवेदनपत्र भेजा, परन्तु अंग्रेज शिक्षाविदों को भला यह कब स्वीकार्य होता कि कोई देशी हिन्दुस्तानी उनके विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के गरिमा-मण्डित पद को अलंकृत करे! जब श्यामजी को अध्ययन समाप्त कर लेने पश्चात् भी ऑक्सफोर्ड या लन्दन-विश्वविद्यालयों में नियुक्ति नहीं मिली, तो उन्होंने १८८३ के अन्त में स्वदेश लौटने का निश्चय कर लिया।

पाँच वर्ष पूर्व श्यामजी ने एक अपरिचित, अनुभवहीन विद्यार्थी के रूप में ब्रिटेन में प्रवेश लिया था। उस समय उनके पास विदेश में रहकर सुविधापूर्वक जीवनयापन करने के साधनों का भी अभाव था, किन्तु अपने परिश्रम, लगन तथा अध्यवसाय से उन्होंने वह सब कुछ प्राप्त कर लिया जो उन्हें अभीष्ट था। इसके साथ ही उन्होंने अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा अस्मिता पर भी आँच नहीं आने दी। उनकी विद्वत्ता और योग्यता का का लोहा तो यूरोप के तत्कालीन सभी संस्कृतविदों ने माना ही था। 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' के वे पहले भारतीय ग्रेजुएट थे।

अध्ययन की समाप्ति पर प्रो० मोनियर विलियम्स ने उन्हें एक प्रशंसापत्र देते हुए लिखा- "इस समय यूरोपीय संस्कृतज्ञों में ऐसा कोई नहीं है जो श्यामजी के तुल्य पाणिनीय व्याकरण का ज्ञाता हो तथा भारत में भी ऐसा कोई पण्डित नहीं है जो संस्कृत में अपूर्व योग्यता रखने के साथ लैटिन तथा ग्रीक का उच्च कोटि का ज्ञाता हो।" उन्होंने श्यामजी को भारत के ऐसे प्रथम संस्कृत विद्वान् के रूप में परिगणित किया जिसने इंग्लैण्ड में रहकर विद्वत्ता के नये प्रतिमान स्थापित किये।

प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ तथा भारतविद्याविद् प्रो० मैक्समूलर ने एक प्रशंसापत्र प्रदान कर श्यामजी के संस्कृत-ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' के कुलपति डॉ० बी० जोवेट ने भी उन्हें एक ऐसा ही प्रमाणपत्र दिया था। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों से भूरिश: प्रशंसित तथा सम्मानित पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा १८८३ के अन्त में भारत आये।[१] ८ जनवरी १८८४ को उदयपुर में उन्होंने संस्कृत में एक प्रभावपूर्ण वक्तृता दी।

मार्च १८८४ में वे अपनी पत्नी को लेकर पुन: इंग्लैण्ड चले गए। १७ नवम्बर १८८४ को उन्होंने बैरिस्ट्री की परीक्षा उत्तीर्ण की और जनवरी १८८४ को स्वदेश लौट आये। भारत के भूतपूर्व वायसराय लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने उन्हें एक प्रमाणपत्र दिया था जिसमें उन्हें भारत में किसी उच्च राज्यसेवा में नियुक्त करने की संस्तुति की थी। परन्तु श्यामजी के जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग मातृभूमि की सेवा के लिए अर्पित होना था। उनके द्वारा देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी तथा प्रगतिशील मोड़ दिया जाना था। अत: उनके राजनैतिक जीवन का अध्ययन करने से पूर्व तत्कालीन भारत की सार्वजनिक गतिविधियों का निरीक्षण करना आवश्यक है।

---

१. भारत लौटकर श्यामजी ने स्वामी दयानन्द द्वारा 'परोपकारिणी सभा' के प्रथम अधिवेशन में भाग लिया। यह अधिवेशन २८-२९ दिसम्बर १८८३ को 'मेयो कॉलेज, अजमेर' में मेवाड़-दरबार की कोठी में सम्पन्न हुआ था।

६. भारत के सार्वजनिक जीवन का सिंहावलोकन

१८५७ के विद्रोह के पश्चात् भारत के राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में एक बड़ा परिवर्तन आ गया। जिन राजाओं और नवाबों ने १८५७ में क्रान्ति का झण्डा उठाया था, अब उनके ही उत्तराधिकारी अपने-अपने रजवाड़ों में शासन करने की पूर्ण प्रभुता तथा अधिकार प्राप्त कर अंग्रेजों का गुणानुवाद करते हुए विलासी जीवन व्यतीत करने लगे। देश के सार्वजनिक जीवन में विश्वविद्यालयों से निकले स्नातकों, वकीलों, सरकारी कर्मचारियों तथा वाणिज्य-व्यवसाय में लगे लोगों के नये वर्ग का आगमन हो रहा था। ये सभी लोग समाज के मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, किन्तु नवीन ज्ञान-विज्ञान से पूर्णतया परिचित होने तथा निम्न वर्ग के ग्रामीण किसानों तथा मजदूर वर्ग की तुलना में कहीं अधिक पठित तथा सुसंस्कृत होने के कारण देश का राजनैतिक नेतृत्व भी इन्हें प्राप्त हो रहा था। आगे चलकर फिरोजशाह मेहता, आनन्दमोहन बोस तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे लोगों के हाथों में देश का नेतृत्व आया, उससे सिद्ध हो गया कि देश को राजनैतिक दिशा देने वाले ये वही लोग हैं जो अंग्रेजी शिक्षण-संस्थानों की उपज हैं तथा यूरोप की नवीन उन्नति, प्रगति एवं वहाँ प्रसार पाने वाले प्रजातन्त्र, स्वातन्त्र्य तथा समता के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हैं।

इधर सरकारी शिक्षणालयों में जैसी शिक्षा-पद्धति प्रचलित हुई, वह देशवासियों में उस भाव को दृढ़ता से स्थापित कर रही थी कि भारत के लिए अंग्रेजी राज्य एक ईश्वरीय वरदान के रूप में आया है। अब हमें यह पढ़ाया जाने लगा था कि ब्रिटिश सत्ता के स्थापित होने से पूर्व इस देश में सर्वत्र अव्यवस्था, अत्याचार तथा अराजकता का बोलबाला था। हमारी पाठ्यपुस्तकों में यह विशेष रूप में लिखा जाता रहा कि कहाँ तो अंग्रेजी हुकूमत के पहले अत्याचारी मराठे शासक जिस-तिस से चौथ के नाम पर रुपया वसूला करते थे और अब राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों को भी नियमित लगान देने में कोई

कठिनाई नहीं होती। पहले न्याय के नाम पर काज़ियों और पण्डितों द्वारा मनमाने फैसले किये जाते थे, जबकि दीवानी और फ़ौजदारी के लिखित कानूनों के आधार पर अब अदालतों में वैधानिक निर्णय किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त रेल लाइनों के बिछाये जाने, डाक व्यवस्था के विस्तार, नवीन कल कारखानों तथा उद्योगों की स्थापना आदि के उदाहरण देकर अंग्रेजी राज्य के लाभों को बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता था। स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना से शिक्षा का जो विस्तार हुआ और धर्म तथा समाज के क्षेत्र में नवजागरण के आन्दोलन जिस प्रकार पनपे, उनसे यही सिद्ध किया जाने लगा कि यह सब उन्नति अंग्रेजी राज्य की देन है।

जो लोग अधिक प्रबुद्ध तथा विचारशील थे, वे भी अंग्रेजों की उदारता, दयालुता तथा नीतिमत्ता के गुण गाने में किसी प्रकार का संकोच न करते, किन्तु जब उन्हें इसी राज्य में होनेवाले नाना अत्याचारों, उत्पीड़न तथा शोषण का स्मरण कराया जाता तो वे इसका दोष विदेशी शासन को न देकर उन नौकरशाहों को दे देते जो दयालु महारानी के प्रतिनिधि बनकर यहाँ शासन करते थे। उनकी धारणा थी कि सभी प्रकार के राजनैतिक तथा सामाजिक सुधार ब्रिटिश राज्य की छत्रछाया में रहकर भी प्राप्त किये जा सकते हैं। उन्हें इस बात पर बड़ा गर्व था कि ब्रिटिश लोग वैचारिक स्वतन्त्रता के सर्वाधिक पक्षपाती हैं, क्योंकि मार्क्स, मैजिनी तथा गेरीबाल्डी जैसे लोग, जो अपने देश में ही उत्पीड़न के शिकार हुए थे, अन्ततोगत्वा इंग्लैण्ड में रहकर ही अपनी विचारधारा का प्रचार कर सके। ये लोग अंग्रेजी पार्लियामेंट की स्वतन्त्रताप्रिय तथा न्यायाभिमुख कार्यप्रणाली के सर्वाधिक प्रशंसक थे। उन्हें विश्वास था कि अंग्रेजों के समान-न्याय, वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा विचारों की आज़ादी में विश्वास करनेवाले लोगों से भारत का कभी अहित नहीं हो सकता। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें तथा आठवें दशक में ऐसे राजनैतिक चिन्तकों का इस देश में बाहुल्य था जो अपनी परम्पराओं, अपनी विरासत तथा आत्मबोध की धारणाओं से पूर्णतया कटे हुए थे।

तथापि इन्हीं दिनों में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिनसे हमारे राजनीतिज्ञों का विश्वास अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा उदारता से हटने लगा। नई शिक्षा तथा नये विचारों के प्रसार ने देश में समाचारपत्रों के प्रकाशन में प्रगति दी थी।

१८७८ में लार्ड लिटन ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' बनाकर समाचारपत्रों की आज़ादी पर प्रहार किया। इधर देश में दरिद्रता चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। १८७७-७८ के दुर्भिक्ष ने लाखों लोगों को मृत्यु का ग्रास बनाया था। इन्हीं

दिनों आनन्दमोहन बोस तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ता में 'इण्डियन एसोसिएशन' की स्थापना कर सार्वजनिक प्रश्नों पर चर्चा करने का सूत्रपात किया। बड़ौदा के शासक मल्हारराव गायकवाड़ को राज्याधिकार से वंचित करने तथा वहाबी मुखिया अमीरअली को दण्डित करने की कुछ छुटपुट घटनाओं ने भारत के जनमत में व्याप्त असन्तोष को फूट पड़ने का अवसर दिया

लॉर्ड लिटन के बाद लॉर्ड रिपन की भारत के वायसराय-पद पर नियुक्ति हुई। रिपन ने अपने पूर्ववर्ती वायसराय द्वारा किये गये कुछ अवाँछित एवं दुष्टतापूर्ण कृत्यों का प्रतिकार करने का यत्न किया। उसने प्रेस एक्ट के कारण समाचारपत्रों पर लगाये गये अंकुश को समाप्त किया तथा स्वायत्त शासन-पद्धति को जारी कर जनता का विश्वास एवं स्नेह अर्जित किया। भारत की भोली जनता लार्ड रिपन को उसके इन उदारपूर्ण कार्यों के लिए अन्तस्तल से धन्यवाद देती हुई शतमुख, सहस्रमुख होकर उसकी प्रशंसा के गीत गाने लगी।

ऐसी ही कुछ परिस्थितियाँ उस समय के भारत के सार्वजनिक जीवन को उद्वेलित तथा प्रभावित कर रही थीं। श्यामजी इस समय मातृभूमि से सहस्रों मील दूर रहकर अपने अध्ययन-क्रम को पूरा करने में लगे थे। भारत के प्रमुख नेता वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी भी उस समय इंग्लैण्ड में ही थे। श्यामजी का उनसे काफी निकट सम्बन्ध था।

यही वह समय था जबकि एक अवकाश प्राप्त अंग्रेज सिविलियन ए० ओ० ह्यूम 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की स्थापना की भूमिका तैयार कर रहा था।[१] १८८३ में राज्य सेवा से अवकाश ले लेने पर उसने 'कलकत्ता विश्वविद्यालय' के स्नातकों को एक खुला पत्र लिखा जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि शासकों और शासितों के बीच संवाद के लिए आज कोई साधन उपलब्ध नहीं है। ह्यूम को यह आशंका थी कि राजा और प्रजा के बीच के सम्बन्ध यदि मधुर नहीं रहेंगे तो १८५७ की पुनरावृत्ति हो सकती है। जो भी हो, १८८५ में उसने उस कांग्रेस की स्थापना कर दी जिसके संविधान में ही ब्रिटिश ताज के प्रति अविचलित निष्ठा एवं वफादारी प्रदर्शित करने पर जोर दिया गया था।

कांग्रेस की स्थापना की सभी प्रारम्भिक कार्यवाहियों को पूरा करने के पश्चात् ह्यूम लार्ड डफरिन से मिले। वस्तुतः ह्यूम की अपनी इच्छा कांग्रेस के माध्यम से देश की सामाजिक स्थिति को सुधारने तक ही सीमित थी। कांग्रेस में

---

१. द्रष्टव्य- पं० किशोरीदास वाजपेयी लिखित 'मिस्टर ह्यूम की परम्परा'।

राजनैतिक प्रवृत्तियों का समावेश तो उसने लॉर्ड डफरिन के कहने पर ही किया, जिसने उन्हें यह स्पष्ट कर दिया था कि शासन का मुखिया होने पर भी वह जनता की इच्छाओं की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं और इसी सन्दर्भ में उन्होंने चाहा था कि कांग्रेस एक ऐसा मंच बने जो भारतीय जन-समाज के विचारों और इच्छाओं से शासकवर्ग को परिचित कराता रहे। लॉर्ड-डफरिन के इस सुझाव पर ही कांग्रेस ने राजनैतिक संस्था का चोला पहना था।

१८८५ के प्रारम्भ में जब श्यामजी भारत लौटकर आये तो कांग्रेस की स्थापना की चर्चायें देश के वातावरण में गूँज रही थीं। जैसाकि हम आगे देखेंगे भारत में अपने १८९७ तक के निवास काल में श्यामजी कांग्रेस आन्दोलन में भाग नहीं ले सके। शायद यह भी एक कारण था कि जब १९०५ में वे सक्रिय राजनीति में उतरे, तो उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस की प्रतिगामी प्रवृत्तियों के विरोध में ज़िहाद छेड़ दिया। कांग्रेस के उस समय के प्रतिष्ठित नेताओं में अकेले बाल गंगाधर तिलक ही थे जो कांग्रेस के नरमदली नेताओं की खुशामदी वृत्ति तथा चापलूसी भरे प्रस्तावों के विरोध में डटकर खड़े हुए थे। श्यामजी से आयु में तिलक एक वर्ष बड़े थे तथा उन्होंने भी उनकी भाँति संस्कृत का गहन अभ्यास किया था। वे सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हो चुके थे तथा 'केसरी' एवं 'मराठा' पत्रों के माध्यम से जनभावनाओं को व्यक्त करने के कारण उन्होंने जनता में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली थी।

७. देशी रजवाड़ों में

भारत लौटकर श्यामजी ने बम्बई हाईकोर्ट में १९ जनवरी १८८५ को एक वकील के रूप में अपना नाम अंकित कराया। उनके आदरणीय गुरु तथा पथप्रदर्शक स्वामी दयानन्द का निधन ३० अक्टूबर १८८३ को अजमेर में हो गया था। स्वामी जी का श्यामजी के प्रति कितना स्नेह और विश्वास था, इसका कुछ परिचय हमें ऑक्सफोर्ड रहते हुए उनके पत्र-व्यवहार से मिलता है।[१] इसका एक अन्य प्रमाण यह भी है कि स्वामी जी ने स्वलिखित अपने स्वीकार-पत्र (Will) में अपने निधन के पश्चात् वैदिक धर्म का प्रचार तथा वेदादि शास्त्र-ग्रन्थों के प्रकाशन एवं प्रचार को लक्ष्य में रखकर जिस 'परोपकारिणी सभा' का गठन किया था, उसके एक सभासद् के रूप में उन्होंने श्यामजी का मनोनयन किया था। वे जानते थे कि वेद-भाष्य तथा उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थें के प्रचार एवं प्रसार में श्यामजी जैसा संस्कृतज्ञ एवं शास्त्रज्ञ व्यक्ति महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। उस समय यह कहना कठिन था कि श्यामजी स्वामी जी द्वारा सौंपे गये इस दायित्व को निभाने में कितने समर्थ तथा सक्षम हैं, तथापि यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उनकी स्वामी जी के कार्यों के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा लगन थी।

श्यामजी जैसे महत्त्वाकांक्षी युवक तथा योग्य बैरिस्टर के लिए उस समय भावी जीवन को प्रारम्भ करने हेतु तीन मार्ग स्पष्ट दीख रहे थे-

१. वे बम्बई उच्च न्यायालय में रहकर एक सफल वकील बन सकते थे, यद्यपि इसके लिए उन्हें कुछ वर्षों तक पर्याप्त श्रम करना पड़ता।

२. अपनी डिग्रियों और योग्यता के बल पर वे कोई सरकारी नौकरी प्राप्त कर सकते थे।

३. वे किसा देशी रियासत में ऊँचा पद प्राप्त कर सकते थे।

---

१. स्वामी दयानन्द द्वारा श्यामजी को लिखे गये अनेक पत्र डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा पैरिस से ले आये थे। इन सभी पत्रों को 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' नामक ग्रन्थ में सम्मिलित कर लिया गया है।

संयोग कुछ ऐसा बना कि उन्हें देशी राज्यों में ही कार्य करने का अवसर मिला। श्यामजी के शुभचिन्तक और हितेच्छु रावबहादुर गोपालराव हरि देशमुख उस समय मध्य भारत के रतलाम राज्य के दीवान थे। उनका कार्यकाल समाप्त होने जा रहा था। उन्हीं की सिफारिश से २८ वर्षीय श्यामजी को ७०० रुपये मासिक वेतन पर रतलाम का दीवान नियुक्त कर लिया गया। नियुक्तिपत्र मिल जाने पर वे बम्बई आये और वहाँ से उन्होंने अपनी मातृभूमि कच्छ की यात्रा की। यहाँ की राजधानी भुज के नागरिकों ने जब १९ मार्च को उन्हें एक सार्वजनिक सभा में अभिनन्दन पत्र भेंट किया तो उन्हें 'रतलाम के दीवान' के रूप में सम्बोधित किया गया। रतलाम नरेश उनकी योग्यता से अत्यधिक प्रभावित थे और चाहते थे कि वे पर्याप्त काल तक इसी राज्य में रहें। रियासत की सेवा स्वीकार करने के पीछे एक कारण यह भी था कि श्यामजी भी अपने गुरु स्वामी दयानन्द की भाँति यह अनुभव करते थे कि देशी राज्यों में व्यापक सुधार करने से समस्त देश के जागरण तथा उत्थान की एक सशक्त भूमिका बनाई जा सकती है। रतलाम-नरेश श्यामजी के कार्य से इतने अधिक प्रसन्न थे कि उन्होंने उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में 'खिलअत' प्रदान की। देशी रियासतों पर नियन्त्रण रखनेवाले पोलिटिकल एजेंट इन राजाओं, उनके दीवानों तथा इन राज्यों की शासन-प्रणाली पर सूक्ष्म नज़र रखते थे और सदा देखते रहते थे कि इन रजवाड़ों में ब्रिटिश साम्राज्य के हित के विरुद्ध कोई कार्य नहीं हो रहा है। परन्तु श्यामजी से उनको कभी कोई शिकायत नहीं हुई। यहाँ तक कि मध्यभारत की रियासतों के 'एजेंट टु दि गवर्नर-जनरल' ने १८८४-८५ की अपनी रिपोर्ट में श्यामजी की प्रतिभा तथा योग्यता की प्रशंसा करते हुए उन्हें एक ऐसा राज्याधिकारी बताया था, जिसके पास सौभाग्य से इंग्लैण्ड के एक विश्वविद्यालय की उपाधि भी है। श्यामजी के लिए भी यह सन्तोष का विषय था कि भारत सरकार के राजनैतिक विभाग के सचिव उनके कार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट थे।

इधर श्यामजी के स्वास्थ्य में कुछ गड़बड़ हो जाने के कारण वे रतलाम के दीवान का पद मई १८८८ में छोड़ देने के लिए विवश हुए। रतलाम से वे बम्बई आ गए। एक क्षण के लिए उनके मन में पुनः बम्बई में रहकर वकालत प्रारम्भ करने का विचार आया, किन्तु देशी रियासत के समान अधिकार तथा विशिष्ट सुविधाओं का जीवन बिता लेने के पश्चात् वकालत जैसे श्रमसाध्य व्यवसाय को स्वीकार करना उन्हें अपनी मनःस्थिति के प्रतिकूल लगा। परन्तु किसी अन्य राज्य में पुनः दीवान का पद प्राप्त कर लेना इतना सहज नहीं था। इसके लिए उन्होंने

बहुत से प्रयत्न किये, किन्तु अविलम्ब सफलता मिलना सम्भव नहीं था।

अन्ततः उन्होंने अजमेर आकर वकालत करने का निश्चय किया। वे जानते थे कि अजमेर राजपूताना का केन्द्रीय स्थान है, वहाँ रहते हुए वे देशी रियासतों के शासकों से सम्पर्क बना सकते हैं। १८८८ ई० के अन्त में वे अजमेर आ गये। 'इनर टेम्पल' के बैरिस्टर, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के स्नातक तथा रतलाम के भूतपूर्व दीवान के लिए अजमेर जैसे मध्यम स्तर के नगर में आकर सफलतापूर्वक वकालत करना थोड़ा भी कठिन नहीं था। श्यामजी को शायद व्यवसाय-बुद्धि भी पितृगत संस्कार के रूप में मिली थी। अतः उन्होंने यहाँ अजमेर के निकटवर्ती कस्बों में सूत कातने के तीन छोटे कारखाने स्थापित कर लिये।[१] इस उद्योग से उन्हें पर्याप्त आय होने लगी।

प्रथम श्रेणी के वकील तथा साधन-सम्पन्न व्यक्ति होने के कारण उन्हें अजमेर की नगरपालिका का सदस्य तथा वरिष्ठ उपाध्यक्ष चुन लिया गया। यह सब होने पर भी श्यामजी इसी प्रयत्न में थे कि किसी रियासत में उन्हें उच्च पद मिल जाये। अन्ततः इसमें उन्हें सफलता भी मिली और २१ दिसम्बर १८९२ में उन्हें उदयपुर के महाराणा फतहसिंह ने अपने राज्य की मन्त्रिपरिषद् का एक सदस्य नियुक्त किया।[२] उनका वेतन १००० रुपये मासिक निश्चित हुआ। १८९३ के प्रारम्भ में वे उदयपुर चले गये। यद्यपि उन्हें राज्य-कौंसिल का एक सदस्य बनाया गया था, किन्तु वास्तव में वे दीवान के पूर्ण अधिकार लेकर ही कार्य कर रहे थे। उदयपुर में श्यामजी लगभग दो वर्ष तक रहे। इस अवधि में महाराणा फतहसिंह जैसे योग्य शासक का पूर्ण विश्वास उन्होंने अर्जित कर लिया था।

इसी बीच उन्हें सौराष्ट्र की मुसलमानी रियासत जूनागढ़ के दीवान का पद स्वीकार करने का प्रस्ताव मिला। यह सुझाव गुजरात के पुराने और परिपक्व राजनीतिज्ञ पण्डित मनसुखराम त्रिपाठी के माध्यम से उन्हें मिला था। त्रिपाठी जी संस्कृत के उच्च विद्वान् थे तथा काठियावाड़ की रियासतों पर उनका पर्याप्त प्रभाव था। श्यामजी ने जूनागढ़ रियासत का दीवान बनना स्वीकार कर लिया। उनका मासिक वेतन १५०० रुपये मासिक निश्चित किया गया तथा तीन वर्ष के लिये उन्हें नियुक्तिपत्र मिल गया। ६ फरवरी १८९४ को उन्होंने अपने इस नये पद का कार्यभार सँभाल लिया। देशी राज्यों की सेवा की इस अवधि में श्यामजी का

---

१. ये कारखाने ब्यावार, केकड़ी तथा नसीराबाद में खोले गये थे।

२. महाराणा फतहसिंह को श्यामजी का परिचय 'परोपकारिणी सभा' के प्रथम मन्त्री कविराज श्यामलदास के माध्यम से मिला था।

जीवन पर्याप्त सुख-सुविधापूर्ण रहा था। अब तक उन्हें धन, सम्मान, ख्याति सभी कुछ अनायास ही मिलते रहे। परन्तु अब जूनागढ़ रहने से उन्हें ज्ञात हुआ कि रजवाड़ों की राजनीति के खेल कितने भयंकर होते हैं। यहाँ आकर उन्हें प्रथम बार अनेक कूटनीतिक षड्यन्त्रों का शिकार होना पड़ा जिनसे वे जीवन के एक अन्य पहलू से भी परिचित हो सके। अब उन्होंने जाना कि मनुष्य का जीवन केवल फूलों की शैया नहीं है।

८. श्यामजी कृष्ण वर्मा और वैदिक यंत्रालय

स्वामी दयानन्द ने अपने वेद-भाष्य तथा अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए १८८० ई० में 'वैदिक यंत्रालय' नामक एक वैदिक मुद्रणालय की स्थापना की थी। अपनी स्थापना से दो वर्ष की अवधि तक यह यंत्रालय काशी में रहा, तत्पश्चात् १८८२ में इसे प्रयाग ले आया गया। स्वामी जी के निधन के पश्चात् जब उनकी उत्तराधिकारिणी सभा का कार्यालय अजमेर में स्थापित हुआ तो यह आवश्यक समझा गया कि वैदिक यंत्रालय का संचालन भी अजमेर से ही होना चाहिए। फलत: १८९१ में यंत्रालय को अजमेर ले आया गया। स्वामी दयानन्द के प्रिय शिष्य होने के नाते 'परोपकारिणी सभा' ने श्यामजी को वैदिक प्रेस का अधिष्ठाता नियुक्त किया। इस समय वे अजमेर में रहकर वकालत कर रहे थे।

दुर्भाग्यवश, यंत्रालय के तत्कालीन प्रबन्धक भक्त रैमलदास के साथ श्यामजी के सम्बन्धों में पर्याप्त कटुता आ गई। ऐसा लगता था कि देशी राज्यों में दीवान जैसे उच्च पद पर कार्य करने के कारण श्यामजी के व्यवहार में कुछ रूखापन, मिज़ाज में तेजी तथा अधिकार गौरव का भाव आ गया था। इधर भक्त रैमलदास भी आर्यसमाज के क्षेत्र में सम्मानित व्यक्ति थे। वे डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर की सेवा को छोड़कर आर्यसमाजों के अनुरोध पर ही वैदिक यंत्रालय के प्रबन्धक बने थे। जब श्यामजी का रैमलदास के प्रति व्यवहार कटुता की चरमसीमा पर पहुँच गया तो 'परोपकारिणी सभा' के उपप्रधान राय मूलराज ने हस्तक्षेप किया और श्यामजी को पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि उन्हें न तो यंत्रालय के प्रबन्धक की सेवाओं को समाप्त करने का अधिकार था और न ही उनके लिए यह उचित था कि वे इस मामले में पुलिस की मदद लेते। बात बहुत कुछ ठीक थी। श्यामजी के असहिष्णुतापूर्ण तथा मनमाने व्यवहार से क्षुब्ध होकर आर्यसमाज की अनेक संस्थाओं ने उनके विरोध में प्रस्ताव पास किये। अन्तत: १८९१ के सितम्बर मास में 'परोपकारिणी सभा' का एक नैमित्तिक अधिवेशन इसी समस्या पर विचार करने के लिए आमन्त्रित किया। इस अधिवेशन में जो

निर्णय लिये गये उनका पालन करते हुए श्यामजी ने यंत्रालय के अधिष्ठाता-पद से त्यागपत्र दे दिया, यद्यपि वे परोपकारिणी सभा के सदस्य यथापूर्व बने रहे। कालान्तर में उन्हें सभा का उपमन्त्री भी चुना गया।

कुछ वर्षों के पश्चात् जब अंग्रेजी सरकार की शह पर पटियाला रियासत में आर्यसमाज के अनेक कार्यकर्त्ताओं पर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के आरोप लगाकर फौज़दारी मुकद्दमा चलाया गया तो सरकारी वकील एडवर्ड ग्रे ने श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे क्रान्तिकारी के आर्यसमाज से सम्बन्ध को लेकर अपने आरोपों की स्थापना की। इसके उत्तर में महाशय मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) तथा प्रो० रामदेव ने जिस प्रकार आर्यसमाज के पक्ष में प्रस्तुत किया और आर्यसमाजियों पर सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्रकारी होने के आरोपों का खण्डन किया, वह इतिहास का एक अध्याय ही बन चुका है।

उपर्युक्त दोनों महानुभावों ने 'The Arya Samaj and its Detractors : A Vindication' शीर्षक एक पुस्तक[१] लिखकर इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया था कि आर्यसमाज मूलत: एक धार्मिक संस्था है और उसके अनुयायियों और कार्यकर्त्ताओं के राजनैतिक विचारों तथा विदेशी सत्ता को उखाड़ने के उनके प्रयत्नों से आर्यसमाज का सीधे तौर पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा भक्त रैमल के पारस्परिक सम्बन्धों तथा एतद्-विषयक विवाद को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रासंगिक दृष्टि से इस अध्याय में श्यामजी का एक पत्र जो उन्होंने राय मूलराज को भेजा था, उद्धृत किया गया है। इस पत्र में स्वामी दयानन्द विरचित वेदभाष्य के सम्बन्ध में श्यामजी ने जो संकेत दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वामी जी ने अपने वेद-भाष्य को मूलत: संस्कृत में लिखा था। इसका हिन्दी-अनुवाद पण्डित ज्वालादत्त ने किया जो त्रुटिपूर्ण है। श्यामजी चाहते थे कि इस भाष्य का संस्कृत भाग पृथकश: छापा जाये।[२] उनके इस पत्र के उत्तर में राय मूलराज ने उन्हें लिखा था कि जनसाधारण के उपयोग की दृष्टि से स्वामी दयानन्द के वेद-भाष्य का

---

१. 'सद्धर्म प्रचारक प्रेस, गुरुकुल कांगड़ी' से १९१० ई० में प्रकाशित

२. "I find that there exists no translation in Hindi by the late lamented Swamiji. We have no right to publish clumsy translation or paraphrase in Hindi by men like Jwaladutt. People are led to beleve that the translation which accompanies the Sanskrit bhashya is by Swamiji himself which is not the fact. The Sanskrit text as prepared by Swamiji may be published as a separate volume."

हिन्दी-अनुवाद भी छपना चाहिए, किन्तु यह हिन्दी अनुवाद त्रुटिपूर्ण तथा अशुद्ध है तो क्यों नहीं श्यामजी स्वयं ही उसे सुधारने तथा संशोधित करने के लिए थोड़ा समय निकालें? साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि "वेद-भाष्य का संस्कृत-भाग ही स्वामी दयानन्द-प्रणीत है और इसकी भाषा पण्डितों की बनाई है" इस तथ्य को पाठकवर्ग से छिपाना नहीं चाहिए।[१] इसी आधार पर यह निश्चय हुआ कि उपर्युक्त तथ्य का सूचक वाक्य स्वामी दयानन्दकृत वेद-भाष्य के प्रत्येक खण्ड के मुखपृष्ठ पर छपना चाहिए। अनेक संस्करणों में यह वाक्य इसी प्रकार छपता भी रहा।

---

१. If you could manage to give some time to revise the Hindi translaeion, it would become a really valuble thing, but we must not mislead the public, On the title page we should print that the Sanskrit bhashya was prepared by Swamiji and that the Hindi translaeion has been got made by the Paropkarini Sabha.

९. जूनागढ़ के अनुभव

सौराष्ट्र (काठियावाड़) की मुस्लिम रियासत जूनागढ़ में दीवान के पद पर रहते हुए श्यामजी कृष्ण वर्मा को जो अनुभव हुए, उन्हें सुखद नहीं कहा जा सकता। इस पद पर वे स्वल्प अवधि तक ही रहे। उन्होंने देखा कि इन रजवाड़ों के राजा और नवाब अपनी प्रजा पर निरंकुश तथा स्वेच्छाधारी ढंग से शासन करते हैं। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ब्रिटिश हाकिमों ने राजाओं को अपने राज्यों के अन्दरूनी हालात पर नियंत्रण रखने के लिए असीमित अधिकार दे रखे हैं, परन्तु गोरे हुक्काम यह कदापि नहीं चाहते कि देशी शासकों को अन्य किसी भी जगह स्वतन्त्र रूप से कार्य करने अथवा निर्णय लेने का अधिकार दिये जायें। इसी प्रकार राज्यों के उच्च अधिकारीवर्ग में परस्पर एक-दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति तथा अनेक निकृष्ट कूटनीतिक षड्यन्त्रों की जानकारी भी उन्हें यहाँ रहकर मिली।

जिस समय श्यामजी ने जूनागढ़ में दीवान का पद सँभाला, उन्हीं दिनों उन्हें बड़ौदा राज्य में कार्य करने वाले एक ब्रिटिश अधिकारी का पत्र मिला। यह व्यक्ति, जिसका नाम ए० एफ० मेकोनोकी था, ऑक्सफोर्ड में श्यामजी का सहपाठी रह चुका था। अपने पत्र में इस व्यक्ति ने यह इच्छा प्रकट की थी कि वह बड़ौदा राज्य की सेवा से ऊब चुका है क्योंकि यहाँ का वातावरण उसके प्रतिकूल है और वह अब जूनागढ़ राज्य में किसी पद पर नियुक्त होकर आने का इच्छुक है। श्यामजी का सहाध्यायी होने के नाते उसने उनसे यह भी अपेक्षा की थी कि वे उसे नियुक्त कराने में सहायता करेंगे। इस पत्र को पाकर श्यामजी ने अपने इस यूरोपीय मित्र को जूनागढ़ राज्य में ऊँचे पद पर नियुक्त करने में भरपूर सहायता की। उनकी सिफारिश पर नवाब ने उन्हें एलिनियेशन सैटलमैंट ऑफिसर के रूप में नियुक्त कर लिया।

जब मेकोनोकी को नियुक्तिपत्र मिला तो वह सीधा जूनागढ़ आने के बजाय शिमला चला गया। इसी बीच उसका विवाह भी हो गया और उसने पत्र द्वारा श्यामजी को सूचित किया कि वह जुलाई १८९५ के अन्त तक जूनागढ़

पहुँचकर अपना पद सँभाल लेगा। शिमला से ही एक और पत्र लिखकर उसने श्यामजी से अनुरोध किया कि जूनागढ़ नगर में मोतीबाग के निकट उसके निवास-हेतु एक सुंदर बंगला बनवा दिया जाये, क्योंकि उसे जानकारी मिली है कि यह स्थान अत्यन्त सुन्दर तथा रम्य है। श्यामजी ने अपने मित्र के इस अनुरोध को भी स्वीकार कर लिया और नवाब से आज्ञा लेकर इस अंग्रेज मित्र के निवास के लिए वे अपनी ही देखरेख में एक भव्य भवन का निर्माण कराने लगे।

उस समय जूनागढ़ राज्य के शासन में नायब दीवान पुरुषोत्तमराय नागर का अत्यन्त प्रभाव था और वे नहीं चाहते थे कि आगन्तुक अंग्रेज अधिकारी तथा दीवान साहब (श्यामजी कृष्ण वर्मा) के बीच का सौहार्दभाव अधिक दिनों तक टिका रहे। उन्हें आशंका थी कि यदि दोनों के बीच प्रेमभाव बना रहा तो वे ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट पर प्रभाव डालकर यथेच्छ कार्य करा लेंगे, जबकि नागर महोदय नहीं चाहते थे कि दीवान साहब एजेंसी के ऊँचे अधिकारियों के विश्वासपात्र बने रहें। जिस समय मेकोनोकी ने जूनागढ़ में अपना पदभार सँभाला, उस समय श्यामजी कहीं दौरे पर गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुये नायब दीवान ने मेकोनोकी को यह समझाने का प्रयत्न किया कि उनके निवास के लिए नवीन भवन तैयार करने में जो विलम्ब हो रहा है, उसके लिए भी दीवान साहब ही जिम्मेवार हैं। वस्तुत: पुरुषोत्तमराय नागर एक चालाक तथा कुटिल वृत्ति का पुरुष था जो रियासत के सम्पूर्ण वर्चस्व को अपने अधिकार में रखना चाहता था। जब उसने देखा कि श्यामजी उसके कहने में आकर किसी भी प्रकार का अनुचित कार्य करनेवाले नहीं हैं तो उसने मिथ्या बातें कहकर मेकोनोकी को पूर्वाग्रहग्रस्त कर दिया।

इसे एक संयोग ही कहना चाहिए कि काठियावाड़ की रियासतों पर नियंत्रण रखनेवाला ब्रिटिश राजनैतिक एजेंट कर्नल हेनकॉक उन दिनों छुट्टी पर चला गया और उसके स्थान पर कर्नल हण्टर को कार्यवाहक एजेंट के रूप में कार्य करना पड़ा। यह व्यक्ति इस प्रदेश के देशी रजवाड़ों की आन्तरिक स्थिति से पूर्णतया परिचित नहीं था। वह श्यामजी से न तो वैयक्तिक रूप में परिचित था और न ही उनकी असाधारण विद्वत्ता, योग्यता तथा देशी रियासतों के उनके प्रशासनिक अनुभवों का उसे ज्ञान था। अत: श्यामजी के विरोधियों को यह अनायास अवसर मिल गया कि वे नव-नियुक्त एजेंट से मिलकर श्यामजी को उनके पद से पृथक् कराने के लिए प्रयत्न करें। मेकोनोकी तथा जूनागढ़ दरबार में एक अन्य बात पर भी मतभेद हो गया। अंग्रेज अधिकारी चाहता था कि उसके

सहायकों के रूप में वे ही लोग काम करें जो उसके अत्यधिक विश्वासपात्र तथा खुशामदी जीहुजूरिये हैं। श्यामजी ने ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी। इसका परिणाम शीघ्र ही सामने आ गया। श्यामजी के विरोधियों ने नये पोलिटिकल एजेंट के पास उनकी निर्मूल शिकायतें भेजना आरम्भ कर दिया। यह सारा काम अत्यन्त सुनियोजित ढंग से हो रहा था और इसमें उन्हें मेकोनोकी से भी सहायता मिल रही थी। मेकोनोकी को बड़ौदा में रहते समय एक अनुशासनबद्ध राज्यकर्मचारी के रूप में पूर्ण नियंत्रण तथा आत्म-संयम में रहते हुए कार्य करना पड़ा था। अब वह पूर्ण स्वेच्छाचारी बनकर अपने अहं को संतुष्ट करना चाहता था। उसके ऐसा करने में एक बड़ी बाधा दीवान-जैसे सर्व-प्रभुता-सम्पन्न पद पर कार्य करनेवाले श्यामजी की उपस्थिति थी। अत: वह उन्हें दीवान के पद से हटाने के लिए उनके विरोधियों से भी मिल गया जो षड्यन्त्र रचने तथा कूटनीतिक छल-छिद्र करने में निपुण थे।

इसी बीच मेकोनोकी स्वयं वांकानेर जाकर कर्नल हण्टर से मिला और उसने श्यामजी के विरोध में एजेंट के कान भरे। इधर नायब दीवान पुरुषोत्तमराय तथा श्यामजी को दीवान का पद दिलानेवाले मनसुखराम त्रिपाठी भी वांकानेर पहुँच गये। जब इन लोगों ने एजेंट का मन श्यामजी से बिलकुल फेर दिया तो विजय की मुस्कान अपने होठों पर लेकर ये लोग पुन: जूनागढ़ लौट आये। नागर, त्रिपाठी तथा मेकोनोकी ने जूनागढ़ के नवाब को भी श्यामजी के विरुद्ध सिखा-पढ़ा रखा था, यही कारण था की आठ मास की दीर्घ अवधि में नवाब ने एक बार भी श्यामजी से निजी मुलाकात कर उनसे राज्यशासन के विषय में कभी कोई परामर्श नहीं किया था। श्यामजी की निर्भीकता तथा दृढ़ता का परिचय भी इसी प्रसंग में मिलता है। उन्होंने अपने विरोधियों से स्पष्ट कह दिया कि वे उनकी घिनौनी चालों से डरनेवाले नहीं हैं। मेकोनोकी की धूर्तता तथा दुरंगी चाल का पता इस बात से भी लगता है कि वह श्यामजी से तो यह कहता रहा कि वह उन्हें अपना विश्वासपात्र मित्र समझता है और उनके विरोधी लोग ही उनके लिए नाना प्रकार की मिथ्या बातें कहते रहते हैं, किन्तु वह इन बातों की ओर थोड़ा भी ध्यान नहीं देता, परन्तु वास्तव में यह सब झूठ था। वांकानेर जाकर वह स्वयं श्यामजी की मजबूत जड़ों को काटने के लिए जो कुछ कर आया था, अब उसका परिणाम आने ही वाला था। अवसर देखकर नागर तथा त्रिपाठी नवाब साहब से मिले और उन्हें यह कहकर श्यामजी के विरुद्ध कर दिया कि वे उनके लिए अनेक अशिष्ट तथा मर्यादा के प्रतिकूल बातें करते हैं। इन लोगों की इस कार्यवाही का अभीष्ट

परिणाम तुरन्त निकल आया। उसी सायंकाल नवाब ने श्यामजी को दीवान-पद से हटाने जाने के आदेश दे दिये और पुरुषोत्तमराय को इस पद पर नियुक्त कर दिया।

इस अप्रत्याशित कार्यवाही को देखकर एक बार तो श्यामजी स्तब्ध रह गये। इसके पश्चात् उन्होंने मेकोनोकी से मुलाकात की जिसने नवाब की कार्यवाही पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की। उसने श्यामजी को यह परामर्श दिया कि वह वांकानेर जाकर कर्नल हण्टर के सम्मुख अपना पक्ष प्रस्तुत करें। परन्तु मेकोनोकी का यह आचरण एक दिखावामात्र था। १६ सितम्बर १८९५ को श्यामजी वांकानेर गये, परन्तु उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई और उन्हें निराश होकर जूनागढ़ लौट आना पड़ा। षड्यन्त्रकारियों के कारनामे यहीं तक सीमित नहीं रहे। उन्होंने श्यामजी की बर्खास्तगी के समाचारों को तत्कालीन अंग्रेजी तथा गुजराती समाचारपत्रों में प्रकाशित करा दिया। यह स्पष्ट ही विश्वासघात की कार्यवाही थी। वस्तुत: वे श्यामजी को इतना अधिक बदनाम कर देना चाहते थे कि उन्हें अन्य किसी भी रियासत में नौकरी ही न मिल सके। परन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। जूनागढ़ आने से पूर्व श्यामजी मेवाड़ राज्य (उदयपुर) में मन्त्री के पद पर कार्य कर चुके थे। अब महाराणा फतहसिंह ने अपने इस पुराने मित्र तथा शुभचिंतक को पुन: अपने राज्य की सेवा में बुला लिया। उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार कर श्यामजी एक बार फिर उदयपुर आ गये।

उन्हें जूनागढ़ छोड़ने के लिए तो कोई खेद नहीं था, किन्तु वे इस अवधि का वेतन अवश्य प्राप्त करना चाहते थे जो कि दीवान के रूप में नियुक्ति के समय हुए समझौते की एक शर्त के रूप में उन्हें मिलना था। शर्तनामा इस प्रकार था कि यदि तीन वर्ष की अवधि पूरी होने से पहले ही रियासत श्यामजी की सेवाओं को समाप्त करेगी तो उन्हें अवशिष्ट अवधि का वेतन दिया जायेगा। इसी शर्त के आधार पर उन्होंने लिखित रूप में अपने वेतन की माँग की। जब उन्हें रियासत की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला तो उन्होंने वांकानेर-स्थित पोलिटिकल एजेंट को इस सम्बन्ध में पत्र लिखा। सौभाग्यवश अब कर्नल हेनकॉक पुन: अपने पद पर आ गये थे। एजेंट के माँगने पर श्यामजी ने जूनागढ़ रियासत से हुए अपने विवाद से सम्बन्धित सभी दस्तावेज एजेंसी कार्यालय में भेज दिये। इनमें उन्होंने मेकोनोकी की कुटिलतापूर्ण साजिश का भण्डाफोड़ करते हुये सभी तथ्यों को प्रस्तुत कर दिया। परन्तु एजेंट के रूप में उनके विरोधी कर्नल

हण्टर पुनः इस पद पर आ गये और श्यामजी को न्याय प्राप्त होने का एकमात्र मार्ग बन्द हो गया। अब उन्होंने बम्बई प्रदेश की सरकार के मुख्यसचिव को एक विस्तृत पत्र लिखकर सम्पूर्ण तथ्यों से अवगत कराया। इसके उत्तर में उन्हें मुख्य सचिव का पत्र मिला जिसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यदि श्यामजी काठियावाड़ से बाहर किसी रियासत में कार्य करना चाहें तो इस पर सरकार को कोई आपत्ति नहीं है। इस पत्र ने उनकी उदयपुर में नियुक्ति को स्थिर बना दिया।

अब इन्हें बकाया वेतन को प्राप्त करने की पुनः चिन्ता हुई। इस पर एजेंट ने उन्हें यह सुझाव दिया कि यदि वे जूनागढ़ नवाब से क्षमा-याचना कर लें तो अवशिष्ट अवधि के वेतन का भुगतान उन्हें हो सकता है। श्यामजी को इसमें आपत्ति की कोई बात प्रतीत नहीं हुई। वे स्वाभिमान और आत्मगौरव की रक्षा करते हुए भी ऐसा कर सकते थे। अतः उन्होंने नवाब को एक पत्र लिखते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि जो कुछ हुआ, उसमें उनका अभिप्राय नवाब साहब का अपमान करना कदापि नहीं था। तथापि यदि उनके किसी कथन अथवा आचरण से उन्हें दुःख पहुँचा है तो इसके लिये वे क्षमा-याचना करते हैं। इतना करने पर भी कर्नल हण्टर की कारस्तानी से नवाब और श्यामजी के बीच सुलह-सफाई नहीं हो सकी, बल्कि उन्हें बताया गया कि माफीनामे की इबारत तो वही होगी जो नवाब का एजेंसी-स्थित वकील बनाकर देगा। एक बार तो श्यामजी इस प्रस्ताव से भी सहमत हो गये, परन्तु वकील द्वारा लिखित क्षमा-पत्र पढ़कर उन्हें सुनाया गया तो उन्होंने उत्तर में वकील को कहा कि वे नवाब साहब के प्रति उनका सम्मान-भाव प्रकट करते हुए उनसे कहें कि माफीनामे की इस रूप रेखा पर हस्ताक्षर करना उनके लिऐ सम्भव नहीं है। इस प्रकार जूनागढ़ के अल्पकालीन निवास में श्यामजी को जो कटु अनुभव हुए, उनसे वे रजवाड़ों की दुनिया से सर्वथा निराश हो गये।

१०. इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान

जूनागढ़ छोड़ने के पश्चात् उदयपुर में मंत्रीपद प्राप्त करने में श्यामजी को कोई कठिनाई नहीं हुई। उस समय उनकी आयु ४० वर्ष की थी और उदयपुर राज्य से प्राप्त वेतन के अतिरिक्त अजमेर के समीपवर्ती स्थानों पर स्थापित की गई सूती मिलों से उन्हें नियमित आय हो रही थी। यद्यपि जूनागढ़ के अल्पकालीन निवास में उन्हें अनेक कटु तथा अपमानजनक अनुभव हुए थे, किन्तु उदयपुर के महाराणा का उनके प्रति व्यवहार अत्यन्त मैत्रीपूर्ण तथा सौहार्दयुक्त था।

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया संतुष्ट जीवन व्यतीत करने पर भी श्यामजी ने अपनी मातृभूमि को छोड़कर विदेश का मार्ग क्यों पकड़ा? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें भारत की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों पर पुनः विचार करना होगा।

यह एक संयोग ही कहा जायेगा कि श्यामजी का देशी रियासतों का कार्यकाल 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना के काल से प्रारम्भ होकर १८९७ तक चलता है, जबकि इसी वर्ष में इस संस्था में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के संकेत प्रकट होने लगे थे। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना एक अवकाश प्राप्त सिविल अधिकारी ए० ओ० ह्यूम द्वारा की गई थी। इसकी स्थापना के पीछे तत्कालीन वायसराय लॉर्ड डफरिन की नीति कार्य कर रही थी। प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में केवल प्रस्ताव पास करने का ही कार्य होता था। यह संस्था ब्रिटिश राज्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखनेवाले वकीलों, व्यापारियों तथा आभिजात्य वर्ग के लोगों का एक मिलन-स्थलमात्र था। कांग्रेस के अधिवेशनों का प्रारम्भ ही महारानी विक्टोरिया के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा विश्वास के भावों को प्रकट करनेवाले प्रस्ताव के साथ होता था। कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन की समाप्ति पर वायसराय ने आगन्तुक प्रतिनिधियों को उद्यान-भोज दिया था। मद्रास-अधिवेशन की समाप्ति पर उस प्रान्त के गवर्नर ने भी प्रतिनिधियों के सम्मान में पार्टी आयोजित की थी। कांग्रेस के एक अध्यक्ष सर विलियम वेडरबर्न के शब्दों में "मिस्टर ह्यूम की यह मान्यता थी कि कांग्रेस की

आवश्यकता ब्रिटिश राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से ही है।"[1] ह्यूम स्वयं कांग्रेस के महासचिव थे। सही अर्थों में वे ही उस समय कांग्रेस के नीति-रीति तथा कार्यपद्धति के एकमात्र निर्धारक थे। उस युग में तीन अंग्रेजों ने कांग्रेस का अध्यक्ष पद ग्रहण किया था।

तथापि भारत के राजनैतिक क्षितिज पर परिवर्तन के संकेत स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे थे। बाल गंगाधर तिलक के रूप में देश के सार्वजनिक मंच पर एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ जिसने कांग्रेस पर छाये पुराने नेतृत्व को शक्तिशाली चुनौती दी। अपने 'केसरी' तथा 'मराठा' नामक मराठी तथा अंग्रेजी साप्ताहिकों के द्वारा तिलक ने महाराष्ट्र में नवचेतना का संचार किया। १८९० में जब 'सहवास आयु बिल'[2] भारत की विधायिका सभा में पेश किया गया तो तिलक ने उसका डटकर विरोध किया यद्यपि सामाजिक सुधार की दृष्टि से इस बिल के प्रति तिलक की यह विपरीत प्रतिक्रिया निराशाजनक थी, किन्तु उनका कहना था कि किसी विदेशी सरकार को हमारे सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं हैं।

अपने प्रान्त में राजनैतिक तथा सार्वजनिक चेतना जागृत करने के लिए तिलक ने सामूहिक रूप से गणपति-उत्सवों का आयोजन आरम्भ किया। जो गणपति अब तक हिन्दू घरों में ही पूजे जाते थे, अब उनकी सार्वजनिक स्थानों पर धूमधाम के साथ पूजा होने लगी। इस अवसर पर अखाड़े निकाले जाते तथा लाठियों से सुसज्जित नौजवान सड़कों पर मार्च करते हुए निकलते। गोरी सरकार का इस उत्सव के प्रति आशंकित होना स्वाभाविक था। इसके साथ ही तिलक ने शिवाजी की स्मृति में शिवाजी उत्सव करने आरम्भ किये। महाराष्ट्र में स्वराज्य की चेतना के सूत्रधार शिवाजी महाराज के जन्म तथा राज्यारोहण की स्मृति में उत्सव मनाये जाने की प्रथा आरम्भ हुई। तिलक चाहते थे कि कांग्रेस के अधिवेशनों में सामान्य जनता का अधिक-से-अधिक सहयोग होना चाहिए। १८९५ में जब पूना में कांग्रेस का अधिवेशन होना निश्चित हुआ तो तिलक को स्वागत समिति का मंत्री चुना गया। उन्होंने जनसाधारण का आह्वान करते हुए कांग्रेस में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी। अब तक सामाजिक सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन भी कांग्रेस के साथ-साथ होते रहे थे, किन्तु पूना अधिवेशन में तिलक ने 'सामाजिक सुधार सम्मेलन' का आयोजन कांग्रेस पण्डाल में करने की

---

1. Mr. Hume considered it necessary to the safety of the state.
2. Age of Consent Bill.

इज़ाजत नहीं दी। ऐसा करने में उनका अभिप्राय यही था कि वे कांग्रेस को जनसाधारण की संस्था बनाना चाहते थे, जबकि जनसामान्य से सभी प्रकार के सामाजिक सुधारों में सहयोग करने की आशा नहीं की जा सकती थी।

१८९६-९७ में महाराष्ट्र के कई भागों में प्लेग की महामारी फैली। प्लेग को रोकने के लिए सरकार ने जो उपाय किये थे, उनमें से कई ऐसे थे जिनके कारण प्रजा को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। हजारों की संख्या में लोगों को प्लेग से बचाने के लिए अपने घरों को छोड़कर बाहर चले जाने के लिए विवश किया गया। इन्हीं करणों से सरकार के विरोध में आतंकवादी कार्यवाहियाँ पनपने लगीं और चापेकर बंधुओं ने मिस्टर रैण्ड तथा लेफ्टिनेंट आयरेश की हत्या कर डाली।

श्यामजी का तिलक से घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध था। जब अंग्रेज सरकार ने तिलक को गिरफ्तार कर अठारह मास का कारावास-दण्ड दिया तो श्यामजी का उस सरकार के प्रति विश्वास तथा निष्ठाभाव दोलायमान हो उठा। यों तो स्वामी दयानन्द की राष्ट्रवादी शिक्षाओं ने ही श्यामजी के हृदय में देशभक्ति के बीजों का आरोपण कर दिया था, किन्तु जब उन्होंने देखा कि बाल गंगाधर तिलक के रूप में भारत की राजनीति एक नया मोड़ लेना चाहती है, तो उनका सहज आकर्षण तिलक की विचारधारा की ओर हुआ। वे कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं की व्याख्यानबाजी तथा कोरी लफ्फाजी से सर्वथा ऊब चुके थे, अत: उन्होंने तिलक द्वारा प्रस्तुत किये जानेवाले राजनैतिक दर्शन का पूर्णतया स्वागत किया। उनकी धारणा थी कि स्वामी दयानन्द ने अपने क्रान्तिकारी चिन्तन के द्वारा राष्ट्रवाद की जिस रूपरेखा को सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है तिलक द्वारा अपनाई जानेवाली कार्यपद्धति उसी को साकार रूप देने का एक महान् प्रयास है।

इधर जूनागढ़ में उनके साथ जो व्यवहार किया गया था, उससे अंग्रेज जाति के प्रति उनके विश्वास को गहरी चोट लगी। उन्हें यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि शासकों की जाति शासितों की जाति से पूर्णतया भिन्न है। मेकोनोकी जैसे धूर्त प्रकृति के अंग्रेज अफसर के व्यवहार को देखकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उस जाति का व्यक्तिगत रूप में अथवा सामूहिक रूप में, किसी भी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता।

प्रश्न यह उठता है कि यदि अंग्रेज के प्रति श्यामजी के हृदय में इस प्रकार की विरक्ति तथा आक्रोश के भाव उत्पन्न हो चुके थे तो वे इस देश के सार्वजनिक जीवन में खुले तौर पर कूद क्यों नहीं पड़े? ऐसा न करके १८९७ में

उन्होंने मातृभूमि से विदा लेकर इंग्लैण्ड की ओर प्रस्थान क्यों किया? उत्तर यह है कि एक तो तत्कालीन राजनैतिक नेतृत्व से वे कतई सन्तुष्ट नहीं थे; दूसरे, उनकी यह धारणा दृढ़ हो चुकी थी कि ब्रिटिश भारत की सीमा में रहकर राजनैतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करना संभव नहीं था। इन्हीं कारणों से विवश होकर श्यामजी कृष्ण वर्मा ने १८९७ की हेमन्त ऋतु में इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान किया।

११. हर्बर्ट स्पैन्सर तथा स्वामी दयानन्द के नाम से छात्रवृत्तियाँ

श्यामजी कृष्ण वर्मा का राष्ट्रवाद दो प्रकार की विचारधाराओं से प्रभावित दिखाई देता है। प्रथम थी स्वामी दयानन्द द्वारा वैदिक चिन्तन पर आधारित राष्ट्रोत्थान की वह योजना जोकि आर्यसमाज के कार्यक्रम के रूप में प्रस्तुत की गई थी, तथा दूसरी थी लोकमान्य तिलक की उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा। उस समय तक कांग्रेस के नेतागण जिस प्रकार के धीमे शासन-सुधारों पर जोर दे रहे थे, उससे श्यामजी की विचारधारा कतई मेल नहीं खाती थी।

इन्हीं कारणों से श्यामजी स्थायी रूप से इंग्लैण्ड में रहने लगे। यहाँ उन्हें यूरोप में प्रचलित उन समकालीन विचारधाराओं के सम्पर्क में आने का अवसर मिला जो जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हर्बट स्पैन्सर जैसे लोकप्रिय चिन्तकों तथा दार्शनिकों द्वारा प्रवर्तित की गई थीं। मिल की पुस्तक 'स्वाधीनता' (Liberty) तथा 'स्त्रियों की पराधीनता' (Subjection of Women) ने उन दिनों पठित वर्ग में हलचल मचा रखी थी। इसी प्रकार हर्बर्ट स्पैन्सर की पुस्तक 'शिक्षा तथा समाजशास्त्र' का अध्ययन नवीन विचारवालों के लिए बाइबिल के पाठ के तुल्य समादरणीय था। इन विचारकों द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद का सिद्धान्त 'अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित' (Greatest Good of the greatest number) का नारा लेकर चला था।

श्यामजी ने इन दिनों स्पैन्सर के ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। १८९८ में लंदन में कतिपय अन्य भारतीयों का आगमन हुआ। काठियावाड़ के निवासी श्री सरदारसिंह राणा बैरिस्ट्री का अध्ययन करने आये थे। 'इनर टेम्पल' में उनकी भेंट श्यामजी से हुई। इसी समय शिकागो में सम्पन्न हुई 'विश्व-धर्म-संसद्' में जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करनेवाले श्री वीरचन्द गाँधी भी लंदन आ गये थे। ये सभी लोग श्यामजी के निवास पर एकत्रित होते तथा परस्पर विचार विमर्श करते। उनके वार्तालाप के विषय विभिन्न प्रकार के होते थे जिनमें राजनीति, सामाजिक समस्याएँ, यूरोप में प्रचलित दार्शनिक मतवाद आदि सभी कुछ रहता था।

श्यामजी प्राय: बालगंगाधर तिलक के राजनैतिक मत का समर्थन, तथा कांग्रेस के नरमदल नेताओं की नीतियों का तीव्र प्रतिवाद करते, परन्तु ऐसा करते समय वे अपने स्वतन्त्र तथा प्रबुद्ध चिन्तन पर तिलक के पौराणिक एवं रूढ़िवादी विचारों को हावी न होने देते। विचार-विमर्श के इसी दौर में एक बार श्यामजी ने वीरचन्द गाँधी के उन विचारों की कठोर आलोचना की जिसका अभिप्राय यह था कि अहिंसा को राजनीति में दखल देने की इज़ाजत होनी चाहिए तथा प्रत्येक परिस्थिति में अहिंसा का पालन अनिवार्य है। श्यामजी जैन धर्म के इस विश्वास के विपरीत गीता प्रतिपादित उस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे, जिसमें आततायियों को मारने के लिए शस्त्रों के प्रयोग को धर्म माना गया है।

यद्यपि इस समय तक श्यामजी के राजनैतिक विचार अपनी निर्माण-अवस्था में थे, किन्तु इतना स्पष्ट है कि वे कांग्रेस की नरमदली विचारधारा से तनिक भी सहमत नहीं थे। उन दिनों इंग्लैण्ड में कांग्रेस की विचारधारा का प्रचार करने का जिम्मा कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी ने ले रखा था। यह संस्था ह्यूम और वेडरबर्न जैसे साम्राज्यवादी पिट्ठुओं के इशारे पर चलती थी। श्यामजी अपने मित्र सरदारसिंह राणा तथा जे० एम० परीख आदि के साथ यदा-कदा उसकी बैठकों में चले जाते, किन्तु वे कांग्रेस के नीतियों का कभी समर्थन नहीं करते थे। वस्तुत: इस बीच में वे इंग्लैण्ड में रहनेवाले सभी लोगों से सम्पर्क बना रहे थे, जो संसार के किसी भी कोने में किये जानेवाले स्वतन्त्रता-प्राप्ति के संघर्षों के समर्थक थे।

श्यामजी के इन विचारों को कसौटी पर कसने का समय भी आ गया। १८९९ में दक्षिण अफ्रीका में 'बोअर युद्ध' छिड़ा। यह जानते हुए भी कि इस युद्ध में बोअरों का पक्ष सत्य तथा न्याय का पक्ष है, महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सरकार का साथ देने का निश्चय किया, जैसाकि इनकी आत्मकथा से प्रकट है।[1] गाँधी जी ने इस युद्ध में डॉक्टरी सुविधायें उपलब्ध कराने का जिम्मा लिया और दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों के सहयोग से रेडक्रॉस के झण्डे के नीचे युद्ध में घायल हुए सैनिकों का उपचार किया। श्यामजी के बैठकखाने में प्राय: इसी विषय को

---

1. "It must largely been conceded that justice is on the side of Boers but every single subject of a state must not hope to enforce his private opinion in all cases... our ordinary duty as subjects therefore is not to enter in the merits of the war, but when war has actually broken out to render such assistance as we possibly can."

लेकर बहस होती थी कि क्या बोअर युद्ध में गाँधी जैसे प्रबुद्ध भारतीय को अंग्रेजों का साथ देना चाहिए था? श्यामजी ने गाँधी तथा उनके साथियों द्वारा साम्राज्यवादी शक्तियों को सहयोग देने की कड़ी निंदा की।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक रंगमंच पर जिस-जिस प्रकार के रूपक अभिनीत हो रहे थे, उन सबको देखकर श्यामजी ने प्रबल धारणा बनाई कि जब तक भारत के नवयुवक-वर्ग का सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन पूर्णतया क्रान्तिकारी नहीं बन जायेगा, तब तक इस देश में किसी भी प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने प्रिय दार्शनिक हर्बर्ट स्पैन्सर के विचारों के प्रचार हेतु एक व्याख्यानमाला की योजना बनाई। उन्होंने स्वयं एतद् विषयक विस्तृत रूपरेखा बनाकर स्पैन्सर के पास भेजी, किन्तु दुर्भाग्यवश १९०३ के दिसम्बर मास में स्पैन्सर का निधन हो गया। १४ दिसम्बर को स्पैन्सर की अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न हुई तो उस अवसर पर श्यामजी भी मौजूद थे। उन्होंने दिवंगत दार्शनिक को अपनी भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए घोषणा की कि उस महान् चिन्तक की स्मृति को स्थायी रखने के लिये वे १००० पौण्ड की राशि देकर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में एक व्याख्यानमाला की स्थापना करना चाहते हैं; यह 'हर्बर्ट स्पैन्सर स्मारक व्याख्यानमाला' कहलायगी।

इस घोषणा के तुरन्त पश्चात् ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को अपने निश्चय की सूचना दे दी तथा उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। इलाहाबाद से प्रकाशित होनेवाले 'पाइनियर' पत्र के संवाददाता ने श्यामजी से भेंट कर 'हर्बर्ट स्पैन्सर व्याख्यानमाला' का विस्तृत विवरण अपने पत्र के १० जनवरी १९०४ के अंक में प्रकाशित किया। उनकी योजना को उक्त विश्वविद्यालय ने स्वीकार कर लिया। व्याख्यानमाला के क्रियान्वयन के लिए एक समिति का गठन किया गया और उसमें श्यामजी को भी रखा गया। इस व्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रथम व्याख्यान मार्च १९०४ में स्पैन्सर दर्शन के उत्कृष्ट व्याख्याता श्री फ्रैडरिक हैरिसन का आयोजित किया गया। श्यामजी स्पैन्सर के दर्शन से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने इस दार्शनिक के विचारों की भगवद्गीता तथा अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में व्यक्त विचारों से तुलना करने की भी एक योजना बनाई थी।

स्पैन्सर की स्मृति में केवल एक व्याख्यानमाला की व्यवस्था करके ही श्यामजी सन्तुष्ट नहीं हो गये। स्वर्गीय दार्शनिक की प्रथम पुण्यतिथि (८ दिसम्बर १९०४) पर उन्होंने 'हर्बर्ट स्पैन्सर छात्रवृत्ति योजना' की घोषणा की। इस सन्दर्भ

में सर विलियम वेडरबर्न को पत्र लिखते हुए उन्होंने सूचित किया कि स्पैन्सर की स्मृति में जो छात्रवृत्ति घोषित की गई है, इसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष २००० रुपये उस छात्र को दिये जायेंगे जो भारत से इंग्लैण्ड में आकर अपना अध्ययन पूरा करना चाहता है। एक अन्य छात्रवृत्ति उन्होंने अपने गुरु तथा पथप्रदर्शक स्वामी दयानन्द की स्मृति में देने का निश्चय किया। प्रायोगिक रूप में १९०४ से १९०७ तक तीन वर्षों के लिए इन छात्रवृत्तियों को देने की घोषणा करते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यदि यह योजना सफलतापूर्वक चल निकली तो वे एक स्थायी कोष बनाकर इन छात्रवृत्तियों को भी स्थायी कर देंगे।

श्यामजी का प्रखर राष्ट्रवाद तथा उनकी प्रोज्ज्वल देशभक्ति का पता हमें इस बात से चलता है कि अपने द्वारा प्रवर्तित इन छात्रवृत्तियों को ग्रहण करने वाले छात्रों के लिए उन्होंने एक आवश्यक शर्त यह लगा दी थी कि विद्यार्थी अपने अध्ययन को समाप्त करने के पश्चात् ब्रिटिश सरकार की कोई नौकरी या सेवा स्वीकार नहीं करेगा और न इस सरकार के अन्तर्गत रहकर कोई लाभ का पद प्राप्त करेगा।[१] इस शर्त से यह पता चल जाता है कि श्यामजी इंग्लैण्ड में रहकर अध्ययन करनेवाले भारतीय छात्रों में देश के प्रति अभिमान तथा गौरव का भाव जगाना चाहते थे। उन्हें यह कदापि स्वीकार नहीं था कि प्रतिभाशाली भारतीय छात्र विदेशी गोरी सरकार की गुलामी में अपना सारा जीवन खपा दें।

वेडरबर्न को लिखे इसी पत्र में उन्होंने हर्बर्ट स्पैन्सर द्वारा भारत के प्रति प्रकट किये गये उदारतापूर्ण उद्‌गारों की विस्तार से चर्चा की तथा यह स्पष्ट किया कि इस चिंतक ने भारत की स्वाधीनता के प्रति अत्यन्त उदारतापूर्ण रुख अपनाया था। भारत के ऐसे नि:स्वार्थ तथा सच्चे मित्र के प्रति हम अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं तो इसमें क्या अनुचित है? वस्तुत: इसी पत्र में श्यामजी ने अपने राजनैतिक विचारों को पर्याप्त विस्तार के साथ प्रकट किया था।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि सर वेडरबर्न को यह पत्र लिखकर श्यामजी ने उनसे यह निवेदन किया था कि वे इस पत्र को पढ़कर इन छात्रवृत्तियों की सूचना कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में सर्वसाधारण के दे दें। परन्तु जिस पत्र में अंग्रेजी सरकार की आलोचना की गई थी, भला उसे कांग्रेस अधिवेशन में पढ़ कर सुनाने की ताकत वेडरबर्न में कहाँ से आती? वेडरबर्न ने १९ फरवरी १९०५

---

1. An Indian graduate holding a Fellowhip under this scheme shall not accept any post, office, emoluments or service under British Government after his return in India."

को अपने पत्र में श्यामजी को लिखा- " मैं आपके पत्र को कांग्रेस के समक्ष सुना नहीं सका, कारण कि उसमें सरकार की तीखी आलोचना है और आप यह जानते ही हैं कि कांग्रेस की सरकार के प्रति वफादारी तथा उसका मध्यममार्गी दृष्टिकोण उसके लिए कितना महत्त्वपूर्ण है।"

श्यामजी ने वेडरबर्न के इस पत्र का तीखा उत्तर देते हुए इस बात पर खेद प्रकट किया कि उनके पत्र को कांग्रेस में न पढ़कर अपने युग के एक महान् विचारक की परिपक्व धारणाओं को जनसाधारण तक न पहुँचाने का एक घोर अपराध किया है। इसके उत्तर में अंग्रेज कूटनीतिज्ञ ने पुनः अपना घिसा-पिटा दृष्टिकोण दोहराया, जिसमें कहा गया था कि ऐसा करने से कांग्रेस को क्षति पहुँचती।

यह थी उस समय की कांग्रेस, जो अंग्रेजी सरकार के प्रति वफादारी प्रकट करना ही सर्वोच्च देशभक्ति समझती थी! जो संस्था एक अंग्रेज विचारक के निर्भीक तथा स्पष्ट उद्‌गारों को जनता तक पहुँचाने में भी संकोच करे, केवल इस भय से कि ऐसा करके वह अंग्रेज प्रभुओं की नाराज़गी मोल लेगी, भला उस कांग्रेस के प्रति श्यामजी का क्या आदरभाव हो सकता था? उनकी स्वयं की देशभक्ति तो स्पैन्सर छात्रवृत्ति के लिए रखी गई इस शर्त से ही प्रकट हो रही थी कि इस वृत्ति को स्वीकार कर अध्ययन करनेवाला कोई भी छात्र भावी जीवन में अंग्रेजी सरकार की गुलामी नहीं करेगा!

१२. राजनीति में अवतरण

१९०५ का वर्ष आया। इस समय श्यामजी की आयु ४८ वर्ष की हो चुकी थी। इसी वर्ष में श्यामजी ने अपने राजनैतिक जीवन का आरम्भ किया। ऐसा लगता है कि १९०५ तक आते-आते भारत की परिस्थितियों में कुछ इस प्रकार के मोड़ आ चुके थे, जिनके कारण सम्पूर्ण देश में नवजागृति तथा नवीन राजनैतिक चेतना का उत्पन्न होना स्वाभाविक हो गया था। १८९९ तथा १९०० के वर्ष घोर दुष्काल तथा सूखे के वर्ष थे। लाखों लोग सूखे और अकाल के चपेट में आकर मरे। समाज के पठित-वर्ग ने इस दु:खद स्थिति के लिए विदेशी सरकार को उत्तरदायी ठहराया, जिसकी अर्थिक नीतियों ने देश को पूर्णतया दिवालिया बना दिया था।

लॉर्ड कर्जन के भारत के वायसराय बनने के साथ-साथ राजनैतिक क्षितिज पर भी असन्तोष तथा अविश्वास के बादल घिरने लगे। कर्जन ने बंगाल का विभाजन कर देशवासियों के कटे घाव पर नमक छिड़कने का कार्य किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष के नेतृत्व को पाकर सोया हुआ बंगाल जाग उठा। बंग-भंग का कड़ा विरोध किया जाने लगा। स्वराज्य, स्वदेशी तथा बायकाट की ध्वनियाँ वातावरण में गूंज उठें। लॉर्ड कर्जन का भारतवसियों के प्रति दुष्टतापूर्ण दृष्टिकोण उस समय सामने आ गया जब फरवरी १९०५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपना दीक्षान्त भाषण देते समय उसने भारतवसियों को 'झूठा' तक कह दिया।

भारत में इस समय जो एक नवीन प्रकार का आत्मविश्वास तथा दृढ़ता के भाव जागृत हो रहे थे, उनका एक मुख्य कारण यह था कि जापान जैसे छोटे एशियाई देश द्वारा रूस के तुल्य विशाल यूरोपीय देश को पराजित कर देने से भारतवासियों के समक्ष यूरोपीय देशों की वीरता की पोल खुल चुकी थी। भारत की ही भाँति एशिया के अन्य देश भी यह अनुभव करने लगे थे कि यदि संगठित प्रयास किये जायें तो यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों को परास्त करना कठिन नहीं है।

जिस समय भारत का राजनैतिक जीवन इन्हीं परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में नवीन करवट ले रहा था, श्यामजी ने स्वदेश की राजनीति में प्रवेश किया। परन्तु इस समय वे भारत की धरती से हजारों मील दूर लन्दन में थे। यहीं से उन्होंने जनवरी १९०५ में 'दि इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' नामक एक अंग्रेजी पत्र निकाला जिसमें भारत की आज़ादी के साथ-साथ राजनीति, समाज तथा धर्म जैसे विषयों पर खुली चर्चा रहती थी। अपने पत्र के उद्देश्यों की घोषणा करते हुए श्यामजी ने लिखा था-"भारत तथा इंग्लैण्ड के राजनीतिक सम्बन्धों की सम्यक् विवेचना तभी सम्भव है जब ब्रिटेन में भारतीय हितों की समुचित व्याख्या की जाये और इस देश के निवासियों को बताया जा सके कि भारतवासी अंग्रेजी शासन में रहकर क्या सोचते हैं और क्या अनुभव करते हैं? अब इस पत्र के द्वारा भारत के हितों को ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैण्ड के विशाल जनमत के समक्ष प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायेगी।"

श्यामजी के इस पत्र में सत्यता थी। उस समय कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी तथा 'लन्दन इन्डिया सोसायटी' के सम्मिलित प्रयत्नों से 'इण्डिया' नामक एक साप्ताहिक पत्र लन्दन से प्रकाशित होता था। परन्तु श्यामजी जानते थे कि ह्यूम और वेडरबर्न जैसे अंग्रेज नौकरशाहों के इशारे पर चलनेवाला कांग्रेस का यह अखबार भारत के वास्तविक हितों को ब्रिटेन निवासियों के समक्ष प्रस्तुत करने में नितान्त अक्षम है। अपने पत्र में श्यामजी उन अंग्रेजों का उल्लेख करना नहीं भूलते थे जो भारत की स्वतन्त्रता के सच्चे पोषक थे तथा यह अनुभव करते थे कि विदेशी दासता के जुए को उतार फेंकने का भारतवासियों को पूर्ण अधिकार है। इसी प्रसंग में उन्होंने 'पोजिटिविस्ट सोसायटी' के नेता फ्रैडरिक हैरिसन तथा डैमोक्रेटिक फेडरेशन के संस्थापक एच० एम० हिण्डमैन का प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया।

रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय का उल्लेख करते हुए श्यामजी ने इसे एशिया महाद्वीप के लिए नवीन जागृति, नई आशा तथा नये उत्साह का जनक बताया। पत्र के इसी अंक में तिलक द्वारा इंग्लैण्ड में भारत का एक स्थायी राजनैतिक मिशन खोलने के प्रस्ताव का जोर-शोर से समर्थन किया गया। 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' का भरपूर स्वागत हुआ। दादाभाई नौरोजी ने पत्र की तीन प्रतियाँ मंगवाई। लन्दन के 'रेनाल्ड' तथा 'डेली न्यूज' नामक समाचारपत्रों ने इस नवीन पत्र के प्रकाशन का हार्दिक अभिनन्दन किया। पत्र का जिस उत्साह के साथ स्वागत हुआ, उससे उत्साहित होकर श्यामजी ने 'सोशियॉलॉजिस्ट' के

द्वितीय अंक में भारत में विदेशी शासन पर और अधिक कठोरता से प्रहार करते हुए लिखा- "आज भारत में जो बेईमानी, धोखाधड़ी, पाखण्ड, झूठ तथा अन्य प्रकार की बुराइयाँ नजर आ रही हैं, उनका एकमात्र कारण इस देश पर किया जानेवाला विदेशियों का वह शासन है जो तानाशाही तथा अत्याचार से परिपूर्ण है।"[1]

पत्र के इस प्रकार सफलतापूर्वक चल निकलने पर श्यामजी ने लन्दन प्रवासी भारतीयों का एक प्रगतिशील गठबन्धन बनाने का निश्चय किया। यों तो उनके मित्रों, साथियों और शुभचिन्तकों की संख्या यहाँ पर्याप्त थी, किन्तु ये लोग कोई समुचित राजनैतिक मंच न मिलने के कारण यदा-कदा कांग्रेस से सम्बद्ध समितियों और सभाओं के माध्यम से अपने विचार प्रकट किया करते थे। अब श्यामजी ने इन सभी भारतवासियों को एक मंच पर एकत्रित करने की दृष्टि से 'इण्डियन होमरूल सोसायटी' की स्थापना का निश्चय किया। तदनुसार १८ फरवरी १९०५ को श्यामजी के 'हाई गेट' स्थित निवास-स्थान पर लगभग २० भारतीय एकत्रित हुए और 'इण्डियन होमरूल सोसायटी' की स्थापना की। इस संस्था के निम्न उद्देश्य स्थिर किये गये-

१. भारत को स्वराज्य प्राप्त कराना।
२. इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए इंग्लैण्ड में समुचित प्रचार करना।
३. भारतवासियों में स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय एकता के भावों को फैलाना।

श्यामजी कृष्ण वर्मा इस संस्था के अध्यक्ष, सरदारसिंह राणा तथा जे० एम० परीख उपाध्यक्ष तथा जे० सी० मुकर्जी मन्त्री निर्वाचित हुए।

अपने पत्र के आगामी अंक में श्यामजी ने इस संस्था के उद्घाटन की घोषणा करते हुए लिखा कि इस समय ग्रेट ब्रिटेन में भारतीयों के जो संगठन काम कर रहे हैं, वे सभी अंग्रेज नौकरशाहों के इशारे पर नाचते हैं, अत: एक ऐसे नवीन संगठन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो स्वतन्त्र रीति से चले तथा भारत में एक ऐसी सरकार की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहे जो वास्तविक अर्थों में प्रजातन्त्र पर आधारित हो।

'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के मई अंक में श्यामजी ने लन्दन में 'इण्डिया हाउस' के नाम से एक छात्रावास खोलने की घोषणा की। इसमें उन विद्यार्थियों के

1. "It is clear therefore that the despotic form of Government and tyrannical rule in India are responsible for deceit, dishonesty, hypocrisy, untruthfulness and other kindred vices which are prevalent in that country."

निवास की व्यवस्था की गई थी जो छात्रवृत्ति लेकर अध्ययनार्थ इंग्लैण्ड आते थे। छात्रावास में उपलब्ध होनेवाली सुविधाओं का भी इस सूचना में उल्लेख किया गया था। यह भी स्पष्ट किया गया कि यहाँ रहनेवाले छात्र मदिरापान नहीं कर सकेंगे। भारत के सभी भागों के छात्रों को लन्दन में निवास की सुविधा उपलब्ध कराने का यह प्रथम सफल प्रयत्न था। इसी अंक में श्यामजी ने प्रिन्स ऑफ वेल्स को दुबारा भारत भेजने की ब्रिटिश नीति की आलोचना की थी। भारत की अंग्रेजी सरकार ने दक्षिण अफ्रीका के बोअर-युद्ध में जीती गई तोपों को उपहार के रूप में बम्बई तथा मद्रास की नगरपालिकाओं को देने का निश्चय किया था। एक पराजित जाति को और नीचा दिखाने के लिए लूट की वस्तु को भेंट के रूप में देना तथा उसे भारत के किसी नगर में स्थापित करना श्यामजी को नितान्त अप्रिय लगा, क्योंकि यह तो ब्रिटिश सेनाओं के बोअरों पर किये अत्याचार तथा रक्तपात का प्रतीक था। उन्हें इस बात पर सन्तोष हुआ कि बम्बई नगर निगम ने इस प्रकार की भेंट को लेना अस्वीकार कर दिया।

लन्दन के सार्वजनिक जीवन में श्यामजी प्रतिष्ठित स्थान बना चुके थे, विशेषत: प्रगतिशील भारतीयों में वे अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। ९ मई १९०५ को लन्दन-निवासी भारतीयों ने उनके सम्मान में एक भोज का आयोजन किया जिसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी तथा ईसाई सभी धर्मावलम्बी सम्मिलित हुए। महान् वृद्ध भारतीय दादाभाई नौरोजी भी उपस्थित थे।

भारत में चलनेवाली प्रगतिशील राजनैतिक गतिविधियों के प्रति श्यामजी की पूर्ण सहानुभूति थी। बंगाल के लोकप्रिय नेता विपिनचन्द्र पाल तथा उनके द्वारा सम्पादित पत्र 'न्यू इण्डिया' के प्रति उनकी पूरी सद्भावना थी। तिलक से तो उनकी घनिष्ठता पहले से स्थापित हो चुकी थी, अब लाला लाजतराय से भी उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बन गये। इस प्रकार भारत की तत्कालीन लोकप्रिय त्रिमूर्ति 'बाल, लाल, पाल' तीनों को श्यामजी का प्रेम, विश्वास तथा सहानुभूति प्राप्त थी।

२९ जुलाई १९०५ को होलबोर्न टाउनहॉल में आयोजित 'यूनाईटेड कांग्रेस ऑफ डैमोक्रैट्स' के अधिवेशन में श्यामजी ने 'इण्डियन होमरूल लीग' के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। दादाभाई नौरौजी तथा लाला लाजपतराय इस अधिवेशन में कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। यहाँ उन्होंने भरत-विषयक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव उपस्थित किया। श्यामजी ने इस अवसर पर जो प्रभावशाली वक्तृता उपस्थित की, उसका सर्वत्र स्वागत हुआ। 'डेली क्रॉनिकल' ने इस

भाषण का एक रोचक अंश उपस्थित करते हुए लिखा- "श्यामजी ने अपना एक रोचक संस्मरण सुनाते हुए कहा कि उन दिनों वे ऑक्सफोर्ड में पढ़ते थे। उस समय आपके (इंग्लैण्ड के) प्रधानमन्त्री ग्लेडस्टन वहाँ आये और उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या भारतवासी अंग्रेजी शासन से खुश हैं? मैंने उत्तर में कहा कि हाँ, मुसलमानी शासन की तुलना में तो आपके राज्य में हमें कुछ सुविधायें प्राप्त हैं। यदि मुसलमान हमारी पीठ पर लातें मारते थे तो अंग्रेज हमारे पेट पर प्रहार करते हैं।[1] ग्लैडस्टन इस उत्तर को सुनकर अप्रतिभ रह गये थे।"

पहली जुलाई से श्यामजी ने 'इण्डिया हाउस' का विधिवत् उद्घाटन कर दिया। इस अवसर पर अंग्रेज तथा भारतीय भद्र पुरुष पर्याप्त संख्या में उपस्थित थे। अनेक प्रख्यात अंग्रेजों के अतिरिक्त दादाभाई नौरौजी, लाला लाजपतराय, मैडम भीकाजी कामा, रायज़ादा हंसराज आदि देशभक्त भारतवासियों ने इस समारोह में भाग लिया। अपने स्वागत भाषण में श्यामजी ने दादाभाई की उपस्थिति का विशेष उल्लेख करते हुए कहा कि उनके राजनैतिक विचार मुझसे भिन्न हैं, तथापि अपनी उदारता तथा व्यापक दृष्टि से वशवर्ती होकर वे यहाँ आये हैं। 'सोशल डैमोक्रेटिक फेडरेशन' के मिस्टर हिण्डमैन ने 'इण्डिया हाउस' का उद्घाटन करते हुए एक तीखा कटाक्ष उन लोगों पर किया जो बात-बात पर अंग्रेजों की वफादारी की कसमें खाते हैं। ऐसे लोगों को फटकारते हुए उन्होंने स्पष्ट किया- "इंग्लैण्ड के प्रति निष्ठा प्रदर्शित करना भारत के प्रति गद्दारी करना है।"[2] उन्होंने अपने भाषण में इस बात पर भी प्रसन्नता प्रकट की कि यहाँ उपस्थित लोग चाहे भारत के विभिन्न भागों के रहनेवाले तथा विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के अनुयायी हैं, किन्तु भारत की पूर्ण स्वाधीनता ही प्रत्येक का लक्ष्य है। उन्होंने इग्लैण्ड में स्थित भारतीयों के विभिन्न संगठनों की चर्चा करते हुए उनसे निराशा प्रकट की और कहा कि निश्चित धारणावाले, असाधारण दृढ़तावाले, यहाँ तक कि आज़ादी प्राप्त करने के लिए दीवानगी की सीमा तक पहुँचनेवाले व्यक्ति ही अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र करायेंगे।

इंग्लैण्ड में रहकर किये जाने वाले श्यामजी के ये सभी कार्य भारत में अत्यन्त प्रशंसा की दृष्टि से देखे जाते थे। यद्यपि भारत में एंग्लो-इण्डियन समाचारपत्रों ने श्यामजी के कार्यों की कभी प्रशंसा नहीं की, किन्तु भारत की

---

1. "As compared with Mahomedan rule, we enjoyed some privileges. For, if the Mahomedans kicked us in back, the English kicked us in stomach."
2. Loyalty to Great Britain means the treachery to India."

राजनीति में पनपनेवाले गरमदल ने उनके इस देशभक्तिपूर्ण कार्यों की सदा दाद दी थी। यह अवश्य है कि कांग्रेस के कर्त्ताधर्ता नरमदल के लोगों ने उनके प्रति पूर्ण उपेक्षाभाव प्रदर्शित किया। तिलक ने अपने पत्र 'केसरी' में श्यामजी को भारतीय स्वतन्त्रता का संदेशवाहक बताया तथा उन्हें लन्दन के आकाश पर चमकनेवाले एक नक्षत्र की उपमा दी। 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' की प्रशंसा इसलिए भी की कि इस पत्र ने अब तक की निर्धारित उदारदली परम्पराओं को तोड़कर अंग्रेजी शासन के अभिशापों को गिनाना आरम्भ कर दिया, जबकि कांग्रेस की निर्धारित नीति अंग्रेजी राज्य के वरदानों का मुक्तकण्ठ से उल्लेख करना रहा है। १४ जुलाई १९०५ को एक व्यक्तिगत पत्र लिखकर तिलक जी ने श्यामजी को 'मेरे प्रिय श्यामजी' कहकर सम्बोधित किया और लिखा कि अब तक वे स्वयं इंग्लैण्ड आने की योजना को क्रियान्वित नहीं कर सके हैं, इसका उन्हें खेद है। उन्होंने श्यामजी के देशभक्तिपूर्ण कार्यों के लिए बधाई अर्पित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि इंग्लैण्ड के स्वतन्त्रतापूर्ण वातावरण में जो कुछ किया जा सकता है वह भारत में करना सम्भव नहीं है। विपिनचन्द्र पाल ने अपने पत्र 'न्यू इण्डिया' के २ सितम्बर १९०५ के अंक में श्यामजी के कार्यों के प्रति अपना प्रशंसा-भाव व्यक्त किया।

वस्तुत: श्यामजी के कार्य तथा उनकी उपलब्धियाँ आश्चर्यजनक थीं। इंग्लैण्ड में पर्याप्त काल तक रहने पर भी वे यहाँ के सार्वजनिक जीवन में अधिक घुल-मिल नहीं सके थे। किन्तु अब उन्होंने अपने स्वतन्त्र चिन्तन तथा कार्य प्रणाली से लन्दन के जीवन पर एक स्थायी छाप डाली थी। उनके विचारों को जानने और सुनने के लिए नगर में एक प्रबुद्ध श्रोतृवर्ग उत्पन्न हो चुका था तथा 'इण्डिया हाउस' के रूप में श्यामजी ने एक ऐसा केन्द्र स्थापित कर लिया था जो आगे चलकर उनकी विचारधारा के प्रचार करने का मुख्य स्थान बननेवाला था।

श्यामजी का राजनैतिक चिन्तन जहाँ भारतीय इतिहास तथा आर्यों की गौरवपूर्ण परम्पराओं से प्रभावित था, वहाँ उस पर हर्बर्ट स्पैन्सर जैसे दार्शनिकों के आचारशास्त्र तथा समाजशास्त्रीय विचारों की भी छाप थी। स्वराज्य प्राप्ति को उन्होंने अपने राजनैतिक प्रयत्नों का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार कर लिया था। उनकी दृष्टि में देशभक्ति का अर्थ विदेशी शासन को समाप्त करने का अदम्य प्रयत्न था। यदि इस सम्बन्ध में किसी को कोई शंका रही हो तो उन्होंने एक एंग्लो-इण्डियन पत्रकार के इस कथन के उत्तर में लिखा था कि व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से भारत को स्वराज्य मिलना सर्वथा असम्भव है। इस प्रसंग में उन्होंने मेरिडिथ

टाउनसैण्ड की पुस्तंक 'एशिया और यूरोप' के उस अंश को उद्धृत किया जिसमें यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या इंग्लैण्ड भारत पर अधिकार रख सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टाउनसैण्ड ने ठीक ही लिखा- ''जो साम्राज्य एक दिन में स्थापित हुआ है, वह एक रात्रि में खत्म भी हो सकता है।'' उसकी राय में ब्रिटिश शासन को हटाने के लिए भारतवासी अस्त्र-शस्त्र लेकर आगे आयें, यह भी आवश्यक नहीं है। क्योंकि, अंग्रेज लोग भारतीयों के सहयोग के बिना एक दिन भी अपना काम नहीं चला पायेंगे। उसी के शब्दों में, ''यहाँ गोरे लोग नौकर का काम नहीं करते, न तो वे साईस का काम करते हैं और न पुलिस के सिपाही का। न तो कोई गोरा पोस्टमैन है और न क्लर्क। ऐसी स्थिति में यदि भारतवासी एक सप्ताह के लिए भी इस गोरी हुकूमत से असहयोग कर लें तो सारा साम्राज्य ताश के पत्तों के बने घर की भाँति ढह सकता है। यहाँ तक कि शासक स्वयं भूखे-प्यासे अपने घर में बंदी हो जायेंगे। यदि कोई व्यक्ति किसी वर्ग से खरीद-फरोख्त करना बन्द कर दे तो यह कानून की दृष्टि में अपराध नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि भारतवासी अपने गोरे मालिकों की प्रत्येक क्षेत्र में सहायता करना बन्द कर उनसे असहयोग कर बैठें तो वे किसी सशस्त्र क्रान्ति के बिना भी स्वतन्त्रता हासिल कर सकते हैं।''

वस्तुतः यही नीति आगे चलकर 'सविनय अवज्ञा' तथा असहयोग के रूप में भारतवासियों द्वारा अपनायी गयी थी। परन्तु इस नीति को सर्वप्रथम श्यामजी ने प्रस्तुत किया था।

१३. बनारस कांग्रेस और उसके बाद

यह हम संकेत कर चुके हैं कि लॉर्ड कर्जन द्वारा किये गये बंगाल के विभाजन ने भारतवासियों और विशेषकर बंगालियों में किस प्रकार असन्तोष के बीज बो दिये थे। इस विभाजन के द्वारा पूर्वी बंगाल एक मुस्लिम बहुल प्रान्त बन गया जहाँ गोरे शासकों की शह पाकर मुसलमानों ने अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार आरम्भ कर दिये। बंग-भंग की इस विषादजनक पृष्ठभूमि में १९०५ के दिसम्बर महीने में कांग्रेस का बनारस में अधिवेशन होना था। कांग्रेस के नरमदली कर्णधारों ने इस अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए तिलक अथवा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को न चुनकर गोपाल कृष्ण गोखले को चुना। अध्यक्ष के इस चुनाव से श्यामजी की अप्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही। उन्होंने नवम्बर १९०५ के 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के अंक में तिलक और गोखले की तुलना करने के पश्चात् यह सिद्ध कर दिया कि किस प्रकार गोखले जैसा एक व्यावसायिक राजनीतिज्ञ लौकिक दृष्टि से भी सफल रहता है और सांसारिक सम्पत्ति एवं द्रव्योपार्जन में भी कोई कसर नहीं छोड़ता, जबकि सर्वस्व त्यागी तिलक जैसा सच्चा देशभक्त विदेशी शासकों से पदे-पदे प्रताड़ित होता है, कष्ट उठाता है और असीम यातनायें सहन करता है। श्यामजी ने गोखले द्वारा स्थापित 'भारत सेवक समाज' (Servants of India Society) की भी आलोचना की कि इस संस्था के सदस्य भारत में विदेशियों के राज्य को एक ईश्वरीय वरदान मानते हैं।

श्यामजी के मित्र सरदारसिंह राणा ने, जो अब पैरिस में रहने लगे थे, तीन अन्य छात्रवृत्तियों की घोषणा की जो योग्य भारतीय छात्रों के लिए निश्चित की गई थी। एक छात्रवृत्ति मेवाड़ के महाराणा प्रताप की स्मृति में तथा दूसरी छत्रपति शिवाजी की स्मृति में देने का निश्चय हुआ। तीसरी छात्रवृत्ति के नामकरण का भार राणा जी ने श्यामजी पर ही छोड़ा किन्तु उनसे निवेदन किया कि यह छात्रवृत्ति किसी देशप्रेमी मुसलमान के नाम पर दी जानी चाहिए। इसी समय श्यामजी ने प्रसिद्ध आयरिश भारतहितैषी एडमण्ड बर्क तथा पूना के प्रख्यात

विद्वान् गणेश वासुदेव जोशी की स्मृति में कुछ और वृत्तियाँ देने की घोषणा की। इनके द्वारा भारत के सुयोग्य लेखकों, साहित्यकारों और पत्रकारों को यूरोप तथा अमेरिका में भ्रमण करने तथा यहाँ रहकर सब प्रकार के ज्ञान एवं योग्यता अर्जित करने की सुविधा प्रदान की जाती थी, जिससे वे भारतवासियों में स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय एकता के विचारों को फैला सकें।

श्यामजी द्वारा कांग्रेस की रीति-नीतियों की जो आलोचना की जाती थी, उसका प्रमुख कारण यही था कि वे नहीं चाहते थे कि ह्यूम, वेडरबर्न तथा हेनरी कॉटन जैसे साम्राज्यभक्त अंग्रेज 'कांग्रेस' के भारतीय नेताओं की नाकों में नकेल डालें तथा उन्हें अपने मन के अनुकूल नचायें। जब १९०५ के दिसम्बर मास में पं० गोपाल कृष्ण गोखले के सभापतित्व में बनारस में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उसमें गोखले तथा रमेशचन्द्र दत्त जैसे उदारदली नेता ही छाये रहे। तिलक, लाजपतराय तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे देशभक्त नेताओं की यहाँ तनिक भी दाल नहीं गली। बंगाल, महाराष्ट्र तथा पंजाब के प्रतिनिधियों के विरोध के बावजूद प्रिंस ऑफ वेल्स तथा उनकी पत्नी के भारत आगमन पर कांग्रेस की ओर से उनको स्वागत का संदेश भेजा गया। गोखले और दत्त के ही कारण स्वदेशी तथा बहिष्कार का प्रस्ताव भी कांग्रेस में प्रस्तुत नहीं किया गया। इसका कारण मात्र इतना ही था कि यदि गोखले अपने एंग्लो-इण्डियन मित्रों के समक्ष स्वदेशी तथा बहिष्कार के समर्थक बनकर आते तो यह उनकी ब्रिटिश निष्ठा पर आघात होता।

श्यामजी को बनारस कांग्रेस के परिणामों से निराशा हुई। अब उन्होंने कांग्रेस की ब्रिटिश-पोषक नीति के विरुद्ध खुली बग़ावत का झण्डा उठाया। उन्होंने कांग्रेस के इस प्रस्ताव का विरोध किया कि ब्रिटिश संसद में छः भारतीयों को सदस्य के रूप में प्रवेश मिलना चाहिए। उनका तर्क था कि मौजूदा स्थितियों में वे ब्रिटिश पार्लियामेंट में जाकर कुछ कर नहीं पायेंगे। वस्तुतः उनका यह अभियान उन पुराने कांग्रेस नेताओं के विरोध में था जिन्होंने 'हाउस ऑफ कॉमन्स' की सदस्यता प्राप्त करने में अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ लगा दी थीं। अब उन्होंने पुनः स्वराज्य प्राप्ति को ही भारतवासियों के प्रयत्नों का अन्तिम लक्ष्य घोषित करते हुए यह स्पष्ट किया कि उनके राजनैतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत बल प्रयोग को कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उनके विचारानुसार विदेशी मालिकों के कार्यों से पूर्णतया असहयोग करके भी स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। भारत में सविनय अवज्ञा और बहिष्कार की लहर शक्ति पकड़ने लगी थी और श्यामजी

को यह विश्वास दृढ़ हो चला था कि शान्तिपूर्वक (रक्तहीन) क्रान्ति के द्वारा भी वे विदेशी शासन की इतिश्री कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि शक्ति के प्रयोग को श्यामजी सिद्धान्ततः अनुचित समझते थे। गीता के पुजारी तथा आर्यों के शौर्य, वीर्य एवं पराक्रम के प्रशंसक श्यामजी बल प्रयोग को अनुचित तो कदापि नहीं समझते थे, किन्तु उनकी धारणा थी कि वर्तमान परिस्थितियों में शासकवर्ग का प्रत्येक प्रकार से बहिष्कार करके तथा उनसे पूर्ण असहयोग रखकर भी हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार अपने विचारों और नीतियों के आधार पर होमरूल सोसायटी का गठन कर श्यामजी ने लन्दन में नरमदल के कांग्रेसी नेताओं के प्रतिनिधियों और पक्षपोषकों से प्रत्यक्ष विरोध मोल ले लिया। १९०६ के वर्ष का आरम्भ इंग्लैण्ड में सर हेनरी कैम्पबेल बेनरमेन के नेतृत्व में गठित उदारदली सरकार के आरूढ़ होने से हुआ। जब इस सरकार में स्पैन्सर और मिल के मित्र एवं अनुयायी जॉन मोर्ले को भारतमन्त्री बनाया गया तो पुराने कांग्रेसी प्रसन्नता से उछल पड़े। परन्तु श्यामजी ने स्पष्ट रूप से कहा कि साम्राज्यवादी शासन पद्धति में इस बात से अधिक फर्क नहीं पड़ता कि भारत के शासन का दायित्व किस अधिकारी को सौंपा गया है। भारतमन्त्री चाहे कितना ही उदार, सहानुभूतिप्रवण तथा दयालु क्यों न हो, वह पार्लियामेंट के आदेश के बिना भारतहित की कोई बात नहीं कर सकता। अतः श्यामजी ने कांग्रेस के नेताओं के द्वारा अच्छे अथवा बुरे अधिकारियों की नियुक्ति पर हँसने अथवा रोने की प्रवृत्ति का मजाक बनाया। वे इस बात पर जोर देते रहे कि भारतवासियों को अपनी आज़ादी के लिए सर्वतोभावेन प्रयत्न करना चाहिए।

इस नीति के अनुसार जब दादाभाई नौरौजी को ब्रिटिश संसद में प्रवेश पाने में असफलता मिली तो अन्य कांग्रेसियों की भाँति इस पर दुःखी होने की अपेक्षा उन्होंने स्पष्ट किया कि केवल अंग्रेजी पार्लियामेंट में प्रवेश पाने से ही भारत के हितों को आगे बढ़ाना संभव नहीं होगा। परन्तु नौरौजी से भी अधिक तीखी आलोचना के पात्र बने सर हेनरी कॉटन, जो कांग्रेस में ह्यूम और वेडरबर्न द्वारा चलाई गई ब्रिटिश भक्ति की परम्परा को जारी रखना चाहते थे। २८ फरवरी १९०६ को एक भाषण देते हुए सर कॉटन ने भारतवासियों को अंग्रेजों के प्रति निष्ठा और वफादारी की बार-बार चर्चा की। इस पर श्यामजी ने कटु व्यंग्य करते हुए लिखा- "एक अत्याचार पीड़ित तथा कुचली हुई जाति की वफादारी और निष्ठा की चर्चा ही क्या महत्त्व रखती है?" उन्होंने अंग्रेजों को संसार की

सबसे अधिक बेवफा कौम बताया और कहा कि "भारतवासियों द्वारा बार-बार वफाई की कसमें खाने की यह आदत जितनी जल्दी बन्द हो उतना ही अच्छा है।"

अपने पत्र में श्यामजी ने एक अन्य प्रभावशाली लेख लिखा, जिसका शीर्षक था- 'क्या ब्रिटिश राज्य के तथाकथित वरदान वास्तव में प्रच्छन्न अभिशाप नहीं हैं? इस लेख को लिखने का एक विशिष्ट कारण था। सर हेनरी कॉटन ने पार्लियामेंट में भाषण देते हुए भारतवासियों की तथाकथित ब्रिटिश निष्ठा के लिए तीन कारण बताये थे- १. ब्रिटिश शासन में शिक्षा का प्रसार, २. नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता, तथा ३. राष्ट्रीय सुरक्षा। इन तीनों कारणों का तीव्र प्रतिवाद करते हुए श्यामजी ने यह स्पष्ट किया कि अंग्रेजों के भारत आगमन से पहले भी हमारे देश में शिक्षा की सुव्यवस्था थी। इसके साथ ही उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा नीति में निहित कारणों पर विचार करते हुए यह लिखा कि हमारे विदेशी हाकिमों ने अपनी हुकूमत को सुदृढ़ बनाने के लिए ही इस शिक्षा प्रणाली को प्रवर्तित किया है। इस प्रसंग में उन्होंने डॉ० रॉबर्ट वालेस के शब्दों को उद्धृत करते हुए लिखा- "साम्राज्यवादियों का यह प्रचार कि वे भारतवासियों को शिक्षित कर उन्हें सभ्य बना रहे हैं, सर्वथा झूठा तथा पाखण्डपूर्ण है। वास्तव में तो वे सभ्य और शिक्षित उस समय होंगे जब इन साम्राज्यवादी शासकों को ठोकर मारकर अपने देश से निकाल भगायेंगे तथा उनके द्वारा दी गई पाठ्यपुस्तकें और कापियों को भी फेंक देंगे।"

हेनरी कॉटन की इस युक्ति का खण्डन करना उनके लिए और सहज था. जिसमें यह कहा गया था कि ब्रिटिश शासन ने भारतीयों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की है। इसके प्रतिवाद में श्यामजी ने भारत के एक देशी भाषा के पत्र 'भाला' के सम्पादक को एक वर्ष के कारावास तथा एक हजार रुपये जुर्माने के दण्ड की चर्चा की और बताया कि जिस देश में स्वतन्त्र लेखन के लिए इस प्रकार की सजा दी जाये, वहाँ व्यक्तिगत आज़ादी की बात करना ही निरर्थक है। इसी प्रसंग में उन्होंने सर हेनरी को यह भी स्मरण कराया कि भारत के महान् लोकप्रिय नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को 'वन्दे मातरम्' का उद्घोष करने पर दण्डित करना अंग्रेजों द्वारा दी गई इस व्यक्तिगत आज़ादी का भण्डाफोड़ कर देता है।

सर हेनरी के अन्तिम तर्क का जवाब और भी तीखा तथा दोटूक था। भारत को अंग्रेजों द्वारा दी गई राष्ट्रीय सुरक्षा की चर्चा करते हुये श्यामजी ने स्पष्ट कर दिया कि गोश्त और ऊन प्राप्त करने के लिए जैसे एक चरवाहा अपनी

भेड़ों की रक्षा करता है, वैसे ही यह अंग्रेजों द्वारा की जानेवाली भारतीयों की रक्षा है, क्योंकि इस समय गोरी जाति का आर्थिक और राजनैतिक लाभ भारत की सुरक्षा में ही है। अंग्रेजों की यह सुरक्षा नीति वैसी है, जैसे कोई अपनी अधिकृत सम्पत्ति की अपने स्वार्थ के लिए रक्षा करे। इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर कि दिया कि शान्ति और गुलामी एकार्थवाची नहीं है और शान्ति स्वतन्त्रता की भी पर्याय नहीं है। श्मशान की शान्ति कभी काम्य नहीं हो सकती।

यहाँ तक हमने यह देखने का प्रयत्न किया कि 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के माध्यम से श्यामजी किस प्रकार एक वैचारिक क्रान्ति तथा राष्ट्रीय जागरण का आह्वान कर रहे थे। परन्तु संगठनात्मक कार्य तथा स्वदेश और ग्रेट ब्रिटेन में उसकी प्रक्रिया का अध्ययन करना भी आवश्यक था। 'इण्डियन होमरूल सोसायटी' की प्रथम वार्षिक बैठक २४ फरवरी १९०६ को सम्पन्न हुई। इसमें लंदन में उपस्थित सभी प्रान्तों के भारतवासियों ने भाग लिया। अनेक महिलायें भी उपस्थित थीं। संस्था के सचिव ने वार्षिक विवरण उपस्थित करते हुए बताया कि एक वर्ष में सदस्यों की संख्या ११९ तक पहुँच गई है। छात्रवृत्तियों तथा संस्था के मुखपत्र 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' की प्रगति की जानकारी दी गई तथा 'इण्डिया हाउस' की गतिविधियों पर प्रकाश डाला गया। सरदारसिंह राणा द्वारा प्रवासी छात्रों को दी जानेवाली छात्रवृत्तियों को साभार स्वीकार किया गया। तत्पश्चात् श्यामजी ने अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए संस्था की गतिविधियों पर सन्तोष व्यक्त किया।

इस प्रकार श्यामजी ने फिर अपने दल के लक्ष्य को स्पष्टतया निरूपित किया और बताया कि स्वशासन और स्वराज्य ही उनका एकमात्र ध्येय है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि कांग्रेस की घोषित नीतियाँ- अधिकारों की भिक्षा, याचना और गिड़गिड़ाना-असफल हो गई हैं। इनके स्थान पर हमें विदेशी शासन के बहिष्कार तथा शान्तिपूर्वक प्रतिकार का सहारा लेना होगा। भारत के उग्रवादी पत्रों ने श्यामजी के इस भाषण का खुले दिल से स्वागत किया।

श्यामजी द्वारा प्रवर्तित नीतियों और कार्यों के अपेक्षित परिणाम धीरे-धीरे सामने आने लगे। इंग्लैण्ड में रहकर अध्ययन करनेवाले भारतीय छात्र उनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे। इनमें एक छात्र पी० एम० बापट[१] का नाम उल्लेखनीय है। बापट को 'सर मंगलदास छात्रवृत्ति' मिलती थी और वे एडिनबरा

---

१. कालान्तर में ये सेनापति बापट के नाम से प्रसिद्ध हुये।

में अध्ययन कर रहे थे। मंगलदास छात्रवृत्ति तो नाममात्र की थी, वस्तुत: वे सरकारी सहायता से अपना व्यय चला रहे थे। बापट पर श्यामजी की क्रान्तिकारी विचारधारा का तीव्र प्रभाव था। इसी विचार से प्रभावित होकर उन्होंने 'भारत में ब्रिटिश राज्य' शीर्षक एक भाषण दिया और उत्साह में आकर उसे छपा भी डाला। इसका परिणाम बापट को शीघ्र भुगतना पड़ा। 'इण्डिया ऑफिस' के इशारे पर सरकार ने उसकी छात्रवृत्ति बन्द कर दी। इस काण्ड की भारत में पर्याप्त चर्चा हुई और बापट शीघ्र ही एक शहीद नेता के रूप में सम्मान के पात्र बन गये। तिलक ने बापट की समुचित सहायता करने के लिए श्यामजी को पत्र भी लिखा।

इसी बीच 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' में प्रवासी छात्रवृत्ति पानेवाले सात छात्रों के नामों की घोषणा की गई। इन छात्रवृत्तियों के लिए कुल १५३ प्रार्थना पत्र आये थे। जिन व्यक्तियों को इन छात्रवृत्तियों के लिए चुना गया उनमें उल्लेखनीय नाम विनायक दामोदर सावरकर नामक एक २२ वर्षीय युवक का था जिसने बम्बई विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी तथा जो कानून का अध्ययन करने के लिए इंग्लैण्ड आना चाहता था। सावरकर के बारे में स्वयं तिलक ने १६ मार्च १९०६ को एक पत्र श्यामजी को लिखा जिसमें बताया गया था कि यह युवक अत्यन्त भावनाप्रवण तथा स्वदेशी आन्दोलन के लिए सर्वथा समर्पित है, अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण इसे फर्ग्युसन कॉलेज के अधिकारियों का कोपभाजन भी बनना पड़ा। सावरकर के उच्च चरित्र की प्रशंसा करते हुए तिलक ने यह भी लिखा था कि राजकीय सेवावृत्ति स्वीकार करने का इसका कोई इरादा नहीं है।

निश्चित योजनानुसार सावरकर ने २६ मई को इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान किया और जून के मध्य में वे वहाँ पहुँचे। उनके यात्रा व्यय के लिए तिलक ने उन्हें ४०० रुपये दिये थे। आगे चलकर सावरकर ने अपने गुरु श्यामजी कृष्ण वर्मा से क्रान्ति मार्ग पर चलने की दीक्षा किस प्रकार ग्रहण की, यह आगामी अध्यायों में वर्णित किया जायेगा।

१४. दादाभाई या तिलक

दिसम्बर १९०६ में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में होना निश्चित हुआ। इसके अध्यक्ष पद के दो दावेदार थे- दादाभाई और तिलक। सुधारवादी नरमदली कांग्रेस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाले दादाभाई और गरमदल की प्रगतिशील विचारधारा के वाहक तिलक, भारतीय राजनीति के दो किनारों पर खड़े थे। नरम दल के लोग अंग्रेज सरकार की अधिकाधिक संख्या में नौकरियों तथा विधानसभाओं में स्थानों की याचना करते थे, किन्तु गरम दल के युवावर्ग के लोग उन्हें अपने उद्देश्यों को स्पष्ट घोषित करने के लिए बाध्य करते तो वे यह कह देते कि भारत को निकट भविष्य में औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त कराना उनका लक्ष्य है। इसके विपरीत गरम दलवालों ने पूर्ण स्वराज्य को अपना ध्येय घोषित कर रखा था। नरम दल के नेता जहाँ अंग्रेजों की ईमानदारी और भलमनसाहत में विश्वास करते हुए यह आशा करते थे कि निकट भविष्य में उनकी प्रार्थनाएँ और अपीलें स्वीकार कर ली जायेंगी, वहाँ गरमदल के लोगों की मान्यता थी कि स्वावलम्बन, सविनय अवज्ञा तथा सीधी कार्यवाही से ही विदेशी राज्य को समाप्त करना सम्भव होगा।

कहना नहीं होगा कि श्यामजी की सहानुभूति गरम दल की राजनीति से ही थी। अपने एक लेख में भारत के राजनैतिक भविष्य को लेकर उन्होंने तीन विकल्प प्रस्तुत किये-

१. ब्रिटिश शासन के वर्तमान तानाशाही और एकतंत्री शासन को चलते रहने दिया जाये, जिसमें भारतवासियों को अपने देश में कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

२. इंग्लैण्ड की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करते हुए अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों की भाँति भारत को भी औपनिवेशिक शासन दे दिया जाये।

३. भारत में पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो।

इन विकल्पों पर विस्तृत विचार करने के अनन्तर श्यामजी ने अन्तिम विकल्प को भारत की समस्याओं के समाधान का एकमात्र व्यावहारिक उपाय

घोषित किया। इस लेख के अन्त में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों का समान हित इसी बात में है कि वे अपने पारस्परिक सम्बन्धों (शासक और शासित के सम्बन्ध) को तोड़ लें और मित्रतापूर्वक पृथक् हो जायें।

श्यामजी की राजनैतिक दृष्टि कितनी स्पष्ट थी, ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध में उनकी धारणायें कितनी उग्र तथा पैनी थीं, इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उन्हीं दिनों श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने ऑक्सफोर्ड में एक भाषण दिया जिसका शीर्षक था- 'ब्रिटिश साम्राज्य में भारत की स्थिति'। इसमें उन्होंने कहा था कि भारत में ब्रिटिश शासन के संस्थापक अंग्रेज लोग व्यापक दृष्टिकोण वाले थे, क्योंकि वे जानते थे कि इस देश में जिस ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई है यह एक ईश्वरीय ध्येय की पूर्ति के लिए हुई है। इसका उत्तर श्यामजी ने एक विस्तृत लेख में दिया जिसका शीर्षक था- 'स्वतन्त्रता के ध्वजवाहक और ऑक्सफोर्ड में गुलामी।' इसमें उन्होंने गोखले की इस विचारधारा को पूर्णतया ध्वस्त कर दिया कि भारत में विदेशी राज्य की स्थापाना ईश्वरीय संकेत या ईश्वरीय विधान था। उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी कि केवल अंग्रेज नौकरशाहों को दोष देना और उसे ही भारत की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार ठहराना बेकार है, क्योंकि वे तो हुक्म के बन्दे हैं। वास्तव में साम्राज्यवादी शासन की मूल धारणा ही गलत है। इस पद्धति के अन्तर्गत यदि देवलोक के फरिश्तों को भी शासन चलाने का काम सौंपा जाये, तो वे भी उसी प्रकार का आचरण करने लगेंगे जैसे आज के अंग्रेज नौकरशाह करते हैं। इस लेख के अन्त में श्यामजी ने बंगाल के अन्तिम नवाब के वचन उद्धृत किये जो उसने १७५६ में कहे थे-" यदि तुमने गोरों को अपने राज्य में कारखाने स्थापित करने तथा सेनाएं रखने की इज़ाजत दी तो याद रखना यह देश भी उनके अधिकार में चला जायेगा।"

इंग्लैण्ड के समाचारपत्र 'डेली न्यूज' को ८ अगस्त १९०७ को एक इण्टरव्यू देते समय गोखले ने कहा- "पूर्वी बंगाल में विगत दिनों में भारतवासियों पर जैसे अत्याचार हुए हैं और इस प्रान्त के वासियों की आज़ादी पर जैसे कुठाराघात हुए हैं, उनकी मिसाल १५० वर्षों के ब्रिटिश शासन में कहीं नहीं मिलती।" श्यामजी ने इसका तीखा उत्तर देते हुए लिखा- "हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि गोखले जैसे व्यक्ति, जो भारत के एक कॉलेज में इतिहास के प्राध्यापक रह चुके हैं, अंग्रेजों के शासन के बारे में यह घोषणा करते हैं कि सर बेम्प फूलर के शासन काल में पूर्वी बंगाल में जैसे अत्याचार हुए हैं वैसे भारत के ब्रिटिश शासन के इतिहास में कहीं नहीं हुए हैं।" उन्होंने इस प्रसंग में स्मरण

कराया कि ऐसा लिखनेवालों को क्लाइव और हेस्टिंग्स तथा अन्य गवर्नर जनरलों द्वारा भारतीयों के प्रति किये गये अमानवीय अत्याचारों तथा धूर्तता, धोखाधड़ी तथा क्रूरतापूर्ण कृत्यों को नहीं भूलना चाहिए। श्यामजी ने गोखले को १८५७ के विद्रोह के दमन के रूप में किये गये अंग्रेजों के बर्बर अत्याचारों का स्मरण दिलाया जबकि निर्दोष भारतवासियों को तोपों के गोलों से उड़ाया गया था और जब ऐसा करने से भी वे नहीं मरे तो उन्हें घेरे में डालकर जला दिया गया था।

इस प्रकार गोखले की ब्रिटिश भक्ति का पर्दाफाश करने के पश्चात् श्यामजी ने दादाभाई की ओर रुख किया। इसका अवसर उन्हें कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्ष पद को लेकर हुए विवाद से मिला। उग्रवाद के समर्थक गरमदल के लोगों की हार्दिक इच्छा थी कि कांग्रेस के इस अधिवेशन का अध्यक्ष भार लोकमान्य तिलक को सौंपा जाना चाहिए। भारत में विदेशी शासन के आचरण और व्यवहार को लेकर देशवासियों की भावनाओं का ज्वार उमड़ रहा था। बंगाल के बारीसाल जिले में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को राष्ट्रगीत गाने के अपराध में गिरफ्तार किया गया था। भारत-सचिव लार्ड मार्ले के अनुसार बंगाल का विभाजन एक निर्णीत सत्य था। ये सब बातें भारतवासियों की पीड़ा को बढ़ानेवाली थीं। इसी समय तिलक 'स्वराज्य, स्वदेशी तथा बहिष्कार' का प्रचार करने के लिये कलकत्ता पहँचे। उनको लेकर बंगालियों के उत्साह की कोई सीमा नहीं थी। इसी समय विपिनचन्द्र पाल ने तिलक का नाम कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित किया। तिलक के नाम के प्रस्ताव ने नरमदल शिविर में खलबली मचा दी। उन्होंने तिलक को निर्वाचन मैदान से हटाने का फैसला किया। यह काम फिरोजशाह मेहता को सौंपा गया। कांग्रेस में फिरोजशाह मेहता की प्रतिष्ठा दादाभाई नौरोजी से किसी भी प्रकार कम नहीं थी। वे उदारदलियों तथा गरमदल वालों में समान रूप से लोकप्रिय थे। उन्होंने कलकत्ता तथा लंदन स्थित कांग्रेस नेताओं को तार भेजकर अध्यक्ष पद के लिए दादाभाई का समर्थन माँगा। उनकी धारणा थी कि नौरोजी ही उस समय तिलक को अध्यक्ष पद के चुनाव में पराजित कर सकते हैं।

निश्चित योजनानुसार दादाभाई को लंदन तार भेजा गया और उन्होंने भारत लौटने के लिए जहाज में अपना स्थान सुरक्षित करा लिया। भारत का सार्वजनिक आकाश एक ही वाक्य से गूँज उठा- दादाभाई या तिलक? ऐसा लगने लगा कि कांग्रेस की स्वागत समिति में इस प्रश्न को लेकर फूट पड़ जायेगी, क्योंकि विपिनचन्द्र पाल ने कांग्रेस की उस नीति का डटकर विरोध किया, जिसके

अनुसार तिलक को अध्यक्ष पद से वंचित किया जा रहा था। जब श्यामजी को नरमदल वालों की कूटचाल का पता लगा, तो उनके क्रोध की कोई सीमा नहीं रही। उन्होंने गाँधी जी के माध्यम से दादाभाई को एक संदेश भेजकर उन्हे कांग्रेस का अध्यक्ष पद स्वीकार न करने के लिए कहा, परन्तु दादाभाई कहाँ माननेवाले थे? वे तो स्वयं उदारदलियों के षड्यंत्र के पुर्जे बने हुए थे जिसके परिणाम स्वरूप तिलक को कांग्रेस के अध्यक्ष पद की गद्दी से वंचित करना था। गाँधी जी भी उस समय तक कांग्रेस के पुराने नेताओं के समर्थक थे, अत: उन्होंने श्यामजी को दादाभाई के इस विचार से परिचित कराते हुए कि वे अध्यक्ष पद के लिए अपनी उम्मेदवारी नहीं छोडेंगे, यह भी लिख दिया कि उनकी निजी सम्मति में इतने बड़े देशभक्त को अध्यक्ष पद स्वीकार न करने के लिए कहना पाप तथा अपराध है।

अब श्यामजी के लिए चुप बैठना कठिन हो गया। उन्होंने अपने पत्र 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' में एक लेख लिखकर दादाभाई के प्रति भारतीयों की उस परम्परागत श्रद्धा तथा सम्मान को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया जो कि इस वृद्ध राजनीतिज्ञ ने लगभग आधी शताब्दी तक अपने को देश से दूर इंग्लैण्ड में रहकर अर्जित किया था। इस लेख में उन्होंने दादाभाई के राजनैतिक कार्यों को पूर्णतया असफल सिद्ध किया। दादाभाई के समर्थक इस बात का गर्व करते थे कि उन्हीं के प्रयत्नों से सिविल सर्विस की परीक्षाओं का केन्द्र भारत में खुल गया है। श्यामजी ने इसके उत्तर में कहा कि सिविल सर्विस की परीक्षाओं में सम्मलित होना देश के नवयुवकों के लिए कोई गौरव की बात नहीं है, क्योंकि ऐसा करके वे अपने आपको एक अन्यायी शासन के एजेंट ही बनाते हैं।

दादाभाई की तीसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होने की लालसा को अनुचित बताते हुए उन्होंने कहा कि अमेरिका में कोई भी व्यक्ति दो बार से अधिक की अवधि के लिए वहाँ का राष्ट्रपति नहीं बन सकता। दादाभाई तो ८१ वर्ष की अवस्था में तीसरी बार इस पद के लिए तैयार हो रहे हैं!

यह बात नहीं कि दादाभाई जैसे वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ तथा सर्वमान्य देशभक्त की आलोचना करते हुए श्यामजी को कोई पीड़ा न हुई हो। उन्होंने इस लेख में स्पष्ट लिखा कि जिस व्यक्ति से उनका विगत तीस वर्षों से परिचय है और जिसने निष्कामभाव से देशसेवा की है, उसकी आलोचना में कुछ लिखते हुए निश्चय ही उन्हें दु:ख हो रहा है। तथापि, यह जानकर कि कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए अपनी स्वीकृति देकर उन्होंने तिलक जैसे योग्य व्यक्ति को इस सम्मान

से वंचित किया है, वे उनकी आलोचना कर रहे हैं। उन्होंने दादाभाई को एक पेशेवर राजनीतिज्ञ बताया, जिसने समय-समय पर दोमुखी बातें कहने में कोई संकोच नहीं किया। अपने कथन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने १८९३ में लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन में दादाभाई के उस अध्यक्षीय भाषण की चर्चा की जिसमें उन्होंने अंग्रेज जाति की न्यायप्रियता तथा ईमानदारीपूर्ण व्यवहार की प्रशंसा की थी, परन्तु १९०२ तक आते-आते अंग्रेजों की न्यायप्रियता और ईमानदारी विषयक उनकी धारणाएँ पूर्णतया बदल गई। इस बार उन्होंने तीखे व्यंग्य में कहा- "लोग कहते हैं कि यदि अंग्रेज न हो तो भारत के लोग आपस में एकदूसरे को लूट-खसोटकर खा जायेंगे। परन्तु ऐसा कहनेवाले पूर्ण सत्य को नहीं जानते। यदि अंग्रेज लोग भारतवासियों को आपसी लूट-खसोट से रोकते हैं तो इसलिए नहीं कि वे उनके शुभचिन्तक हैं, अपितु इसलिए कि वे खुद समस्त भारवासियों को एक साथ ही लूट सकें। उन्होंने भारतीयों की सम्पत्ति और धनमाल की सुरक्षा इसलिए नहीं की है कि उस वैभव को स्वयं भारतवासी भोग सकें, अपितु सुरक्षा का कारण यह है कि इस पूर्णतया सुरक्षित धन-वैभव को वे स्वयं उठाकर अपने देश में ले आयें।"

इस प्रकार दादाभाई के दोनों कथनों को उद्धृत कर श्यामजी ने लिखा- "निश्चय ही भारतीय स्वतन्त्रता के लिए किये जा रहे प्रयत्नों में दादाभाई प्रशंसनीय योगदान दे रहे हैं। उनके एतद् विषयक विचारों और हमारी धारणाओं में कोई बड़ा विरोध भी नहीं है। वे इस समय नरमदल वालों के प्रवक्ता के रूप में भारत जा रहे हैं, हालाँकि उग्रवादी लोग भी उन्हें अपना मानते हैं। परन्तु हमारे विचार के अनुसार जो व्यक्ति परस्पर विरोधी विचार रखनेवाले दो दलों को समान रूप से खुश रखने का प्रयत्न करें, वह दुतरफी चाल चलनेवाला ही कहा जायेगा।"

श्यामजी की आलोचनाओं का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला, क्योंकि दादाभाई को भारत में नरम तथा गरम- दोनों दलों की ओर से समान रूप से समर्थन मिल रहा था। अन्ततः २० नवम्बर १९०७ को इंग्लैण्ड से प्रस्थान कर दादाभाई नौरोजी कांग्रेस की अध्यक्षता करने के लिए १५ दिसम्बर को बम्बई पहुँच गये। कलकत्ता पहुँचने पर उनका हार्दिक स्वागत हुआ। इसी अधिवेशन में सर्वप्रथम दादाभाई ने अध्यक्ष पद से 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण किया तथा घोषणा की कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भारतवासी पूर्णतया तैयार हैं। विषय-समिति में नरम दलवालों तथा उग्र विचारवालों के बीच स्वराज्य, स्वदेशी

तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्नों को लेकर तीखी झड़पें हुईं। जब बहिष्कार के प्रश्न पर विचार हो रहा था, तो ऐसा लगा कि इस बात को लेकर कांग्रेस में फूट पड़ जायेगी। उदार विचारवालों की धारणा थी कि ब्रिटिश सरकार की उदारता में हमें विश्वास रखना चाहिए, जबकि उग्र विचारवालों का कहना था कि इस प्रस्ताव को सरकार के विरुद्ध एक शक्तिशाली हथियार के रूप में प्रयुक्त करना होगा; हमें सरकार से सर्वविध असहयोग करना चाहिए। ऐसा करने से विदेशी हुकूमत का ढ़ाँचा एक बार ही लड़खड़ा जायेगा और उसी स्थिति में वे अपना अधिकार छोड़ने को तैयार होंगे। जब नरम दलवाले नेताओं ने किसी भी प्रकार गरम दलवालों के विचारों को मानने से इन्कार कर दिया तो तिलक अपने अनुयायियों के साथ विषय-समिति के बैठक से उठकर चले गये। इस पर अध्यक्ष ने तिलक द्वारा सुझाये गये संशोधन को स्वीकार कर लिया ताकि इस नाजुक स्थिति में राष्ट्रीय संस्था को उबारा जा सके। तथापि जिस रूप में बायकाट-विषयक प्रस्ताव स्वीकार किया गया, उससे तिलक और उनके दल को सन्तोष नहीं हुआ। जब यह प्रस्ताव मत जानने के लिए रखा गया तो गरम दलवाले सभा से उठकर चले गये। यही समझना चाहिए कि आनेवाले सूरत अधिवेशन में कांग्रेस में जो फूट पड़ी, उसका बीज वपन कलकत्ता में हो गया।

समग्र रूप में देखने पर कलकत्ता कांग्रेस को गरमदलियों की विजय माना गया, क्योंकि श्यामजी को पत्र लिखते हुए एक नेता ने लिखा कि उनके दल के तीन-चौथाई कार्यक्रम कांग्रेस के द्वारा स्वीकार कर लिए गये हैं। दादाभाई ने भी इन कार्यक्रमों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त की, हालाँकि अपने भाषण में उन्होंने इनका विस्तृत उल्लेख नहीं किया था। 'अमृतबाज़ार पत्रिका' तथा 'वन्दे मातरम्' जैसे पत्रों ने नौरोजी के भाषण की आलोचना करते हुए उसे निराशापूर्ण बताया जबकि 'बंगाली' ने उनके अध्यक्षीय भाषण की प्रशंसा की। लाहौर के 'पंजाबी' ने दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं का उल्लेख करते हुए श्यामजी की इस राय से सहमति व्यक्त की कि दादाभाई का व्यक्तित्व दोमुखी है। जब अधिवेशन समाप्त हो गया तो उदार दलवालों ने अपने पत्रों में दादाभाई की भरपूर प्रशंसा करते हुए उन्हें 'स्वराज्य'' शब्द का उद्भावक कहा। इसपर श्यामजी ने अपने पत्र के मार्च के अंक में यह लिखकर स्पष्ट किया कि दादाभाई द्वारा 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण किये जाने से बहुत पहले ही इस शब्द का प्रयोग हो चुका है।[१] इसी

१. 'स्वराज्य' शब्द का प्रथम बार प्रयोग स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश', आर्याभिविनय' आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है ।

प्रकार उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस में विपिनचन्द्र पाल तथा तिलक द्वारा दिये गये व्याख्यानों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारत की भावी राजनीति दादाभाई और तिलक, दोनों में से किसे अपना मार्गदर्शक चुनेगी? यह सत्य है कि नरमदल के लोगों ने अध्यक्ष के पद पर येन-केन-प्रकारेण दादाभाई को आसीन करा दिया, परन्तु करोड़ों लोगों के दिलों पर शासन करना तो तिलक के भाग्य में बँधा था। यह एक शोचनीय तथ्य है कि इस बार जब तिलक को अध्यक्ष के पद से वंचित किया गया तो आगे भी इस महापुरुष को कांग्रेस का प्रधान पद कभी नसीब नहीं हो सका। परन्तु सन्तोष की बात यह थी कि देश के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करनेवाले लोकमान्य तिलक सच्चे अर्थों में 'लोकमान्य' बने तथा देवपुरुष की भाँति कोटि-कोटि जनता द्वारा पूजे गये।

१५. लंदन का राजनैतिक जीवन

कलकत्ता-अधिवेशन समाप्त हुआ। दादाभाई नौरोजी द्वारा उच्चरित 'स्वराज्य' शब्द की व्याख्या कांग्रेस के दोनों दल अपने-अपने ढंग से करने लगे। बंगाल के उग्रवादी कांग्रेसजनों द्वारा संचालित 'वन्दे मातरम्' ने स्वराज्य का अर्थ अंग्रेजी सत्ता से पूर्णतया मुक्त, सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न स्वाधीन राज्य से लिया तो नरम दल के प्रवक्ताओं के अनुसार ब्रिटिश प्रभुसत्ता को सर्वोपरि मानते हुए उसके अधीन औपनिवेशिक पद्धति का स्वशासन ही स्वराज्य का अभिप्राय था। इस प्रकार इन दोनों विचारधाराओं का विरोध प्रेस और मंच के माध्यम से प्रकट होता रहता था। श्यामजी भारतभूमि से दूर रहते हुए भी इस देश की राजनैतिक स्थिति पर बराबर नज़र रखे हुए थे। परिवर्तित परिस्थितियों में वे गरम दल को समर्थन और शक्ति देना अपना कर्त्तव्य समझते थे।

इसी समय 'इण्डियन होमरूल सोसायटी' का वार्षिक अधिवेशन २३ फरवरी १९०७ को लंदन में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर श्यामजी ने १०,००० रुपये का अनुदान देकर भारत में राजनैतिक प्रचार के लिए प्रचारकवर्ग के संगठन का निश्चय किया। इस योजना की घोषणा करते समय यह कहा कि इसे क्रियान्वित करने से पूर्व वे तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल तथा खापर्डे आदि नेताओं से आवश्यक विचार-विमर्श करेंगे। तदनुसार श्यामजी ने भारत स्थित इन सभी नेताओं से पत्र-व्यवहार किया तथा उनकी राय माँगी। सभी ने उत्साहवर्द्धक प्रतिक्रियायें व्यक्त कीं। 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के मई १९०७ के अंक में श्यामजी ने उपर्युक्त नेताओं की इन सम्मतियों को प्रकाशित किया। लोकमान्य तिलक ने अपनी अनुकूल प्रतिक्रिया प्रकट करते हुए इतना विशेष लिखा कि इस योजना के अन्तर्गत हमें ऐसा साहित्य प्रकाशित करना चाहिए जो राजनैतिक विचारधारा को पुष्ट करता हो, साथ ही अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में व्याख्यान कराये जायें जिनसे कि भारत के जनसामान्य तथा पठितवर्ग को राजनैतिक हालात की जानकारी हो सके, वर्ष में एक बार सम्मेलन आयोजित कर सारे कार्य का सिंहावलोकन किया जाना भी आवश्यक होगा।

इसी अंक में श्यामजी ने भारतीय क्रान्तिकारियों में उदीयमान नक्षत्र की भाँति उद्‌भासित होनेवाले लाला हरदयाल की एक अपील प्रकाशित थी, जिसमें उन्होंने श्यामजी द्वारा प्रवर्तित योजना के आधार पर कार्य करनेवाले राजनैतिक मिश्नरियों के लिए आचरणीय संविधान प्रस्तुत किया था। अब श्यामजी ने इस नवीन संस्था के विधान की रूपरेखा अपने पत्र के अगले अंक में प्रस्तुत की। इसके अनुसार भारत को स्वराज्य प्राप्त कराना ही इस संस्था का उद्देश्य स्वीकार किया गया था। इस संस्था के अन्तर्गत (१) अन्तरंग सभा, (२) प्रचारकों का संगठन, (३) सहायकों का दल, (४) स्वराज्य के उद्देश्य से सहानुभूति रखनेवाले मित्रों को संगठित किया जाना था।

१९०७, १९०८ तथा १९०९, इन तीन वर्षों के लिए साहित्य प्रकाशनार्थ १५०० रुपये वार्षिक की राशि निर्धारित की गई तथा यह निश्चित हुआ कि संस्था का सभापति प्रतिवर्ष भारत की राजनैतिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने में समर्थ किसी व्याख्यान दाता को चुनेगा जो भारत के सभी प्रमुख नगरों में अपने व्याख्यानों के द्वारा राजनैतिक चेतना उत्पन्न करने का कार्य करेगा। इस निर्णय के अनुसार प्रथम व्याख्यान दाता के रूप में श्री विपिनचन्द्र पाल का नाम घोषित किया गया।

श्यामजी ने देशी रियासतों में वर्षों तक दीवान के पद पर कार्य करने के पश्चात् यह अनुभव किया था कि यदि स्वतन्त्रता संग्राम के नेता चाहें तो इन देशी राजाओं की सहायता स्वाधीनता युद्ध के संचालन में सम्यक्‌रूपेण ली जा सकती है। इन नरेशों के सम्पर्क में कई वर्षों तक रहने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन राजाओं में सर्वथा अंग्रेजों की गुलामी के भाव ही भरे हैं, ऐसी बात नहीं है। तथापि, वे इस बात से भी अनभिज्ञ नहीं हैं कि इन राजाओं में स्वेच्छाचार, अन्याय, अत्याचार तथा प्रजा-पीड़न की दुष्प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। अत: उन्होंने भारत के देशी राजाओं से अनुरोध किया कि अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़े जानेवाले युद्ध में सम्मिलित होने से पूर्व वे अपने आपको ठीक करें। देशी रियासतों के प्रशासन में सुधार करने के लिए उन्होंने नरेशवर्ग को व्यावहारिक सुझाव भी दिये जिनमें एक क्रान्तिकारी सुझाव यह था कि वे अपने राज्यों में अंग्रेज तथा एंग्लो-इण्डियन अधिकारियों की नियुक्ति हर्गिज न करें। उनका एक महत्त्वपूर्ण परामर्श यह था कि वे अपनी प्रजा को उत्तरदायी शासन प्रदान करें- ऐसा शासन जिसमें प्रजा स्वयं अपनी भूमिका अदा कर सके तथा जो (शासन) इंग्लैण्ड की सीमित राजतन्त्र व्यवस्था से मिलता जुलता हो। इस प्रकार शासन के निर्देशक

बिन्दुओं का उल्लेख करने के पश्चात्, उन्होंने यहाँ तक घोषित कर दिया कि जो भारतीय नरेश ऊपर कथित आदर्शों के अनुसार अपने राज्य का शासन चलायेगा उसे भारत की जनता का सच्चा शुभचिन्तक माना जायेगा। जब भी भारत स्वतन्त्र होगा वह हमारे स्वाधीन राष्ट्र का प्रथम राष्ट्रपति भी बनाया जा सकेगा। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि श्यामजी इस देश के राजन्य वर्ग से कैसी कुछ अपेक्षाएँ रखते थे।

श्यामजी की इस घोषणा के कुछ कारण थे। वे बड़ौदा के प्रगतिशील तथा उदार नरेश श्रीमन्त सयाजीराव गायकवाड़ से अत्यन्त प्रभावित थे। बड़ौदा नरेश कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में भी उपस्थित हुए थे। कालान्तर में श्रीमन्त गायकवाड़ ने अपने राज्य में जो नाना प्रकार के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सुधार किये,[१] उनसे यह स्पष्ट हो गया कि वे अपने राज्य को किस प्रकार सम्पूर्ण रूप से विकसित, उन्नत तथा प्रगतिपथ पर आरूढ़ देखना चाहते थे। अत: श्यामजी का गायकवाड़ जैसे राजा की प्रशंसा करना उचित था। उन्होंने तो यहाँ तक लिख दिया कि यदि गायकवाड़ और उन जैसे अन्य स्वाधीनचेता नरेश तिलक दल के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लें और सम्मिलित रूप से स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें तो उनकी इस संगठित शक्ति का प्रतिकार करना किसी के लिए भी असम्भव हो जायेगा। सयाजीराव गायकवाड़ जब इंग्लैण्ड की यात्रा पर आये, तब श्यामजी को उनकें निकट सम्पर्क में आने का अधिक अवसर मिला। वे लंदन के हाइड पार्क में प्राय: साथ-साथ भ्रमण किया करते थे। श्यामजी ने सयाजीराव के हृदय में उद्दीप्त देशप्रेम के भाव को भली-भाँति जाना और समझा था। इन्हीं गायकवाड़ नरेश ने पूना स्थित अपना ऐतिहासिक राजवाडा बिना मूल्य तिलक को दे दिया था। इसे भी एक सुखद संयोग ही कहा जायेगा कि १९०७ में बंगाल के राजनैतिक आन्दोलन में कूद पड़ने से पहले अरविंद घोष पहले बड़ौदा कॉलेज में ही प्रोफेसर के पद पर कार्य करते रहे थे।

जब श्यामजी ने देशी राजाओं को इस प्रकार देशभक्तिपूर्ण कार्य करने और देश की स्वाधीनता के प्रयत्नों में अपना योगदान देने की बात कही, तो अंग्रेजी सरकार चौकन्नी हो गई। भारत में एक उच्चाधिकारी के रूप में कार्य करने

---

१. गायकवाड़ नरेश ने राजकाज में हिन्दी का प्रयोग, अछूतोद्धार, हरिजन शिक्षा आदि सुधारों की नींव अपने राज्य में रखी। इसमें आर्यसमाज की प्रेरणा कार्य कर रही थी। स्वामी नित्यानन्द तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द आदि आर्य संन्यासियों ने सयाजीराव गायकवाड़ को धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों के लिए प्रेरित किया था।

के पश्चात् निवृत्त हुए सर डोनाल्ड रॉबर्टसन ने श्यामजी के देशी नरेशों को अपने राज्यों में उत्तरदायी, स्वच्छ एवं न्यायपूर्ण शासन स्थापन करने के सुझाव की आलोचना करते हुए एक विचित्र तर्क दिया। उनके कथन का भाव यह था कि देशी रजवाड़ों में प्रजातांत्रिक शासन स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इन राजाओं ने ब्रिटिश शासन को यह गारण्टी दी है कि वे अपने राज्यों का शासन संचालन पूर्ण सुव्यवस्था के साथ करेंगे। अत: अब वे शासन में सुव्यवस्था रखने के लिए स्वयं ही जिम्मेदार हैं। इस जिम्मेदारी को भला वे अपनी प्रजा को शासन अधिकार देकर कैसे बाँट सकते हैं?

श्यामजी ने सर डोनाल्ड के इस कथन पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। प्रथम तो उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया जिसमें यह बताया गया था कि किस प्रकार एक देशी नरेश को अपने राज्य में स्वायत्त शासन की स्थापना करने पर पोलिटिकल ऑफिसर से प्रताड़ित होना पड़ा था। अत: सर डोनाल्ड का यह कथन सर्वथा भ्रान्त है कि राजा लोगों को अपने शासन में समुचित सुधार लाने की पूरी छूट अंग्रेज सरकार ने दे रखी है। श्यामजी का दूसरा तर्क अधिक रोचक तथा शक्तिशाली था। उन्होंने एक उदाहरण देते हुए कहा कि कल्पना करिये, डाकुओं का कोई संगठित गिरोह किसी करोड़पति धनिक को लूटना चाहता है, तो ऐसा करना उसके लिए बहुत सरल है। किन्तु उस करोड़पति की यह धनराशि यदि १० हजार लोगों में बराबर बाँट दी जाती है तो उस डांकू समूह के लिए उन दसों हजार व्यक्तियों को लूटकर उस समस्त धनराशि को एक ही बार में अपने अधिकार में ले लेना इतना सरल नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में लुटेरों का टोला तो यही चाहेगा कि यह द्रव्य एक करोड़पति के हाथों में रहे ताकि उसे आसानी से लूट सके। बस, यही स्थिति अंग्रेजों की है। यदि देशी राज्यों में सारे अधिकार एक ही राजा के पास रहेंगे तो उसका सब प्रकार से शोषण करना गोरे शासकों के लिए सहज होगा, किन्तु राज्यों के ये अधिकार यदि प्रजातन्त्र के आधार पर प्रजावर्ग के हाथों में आ जाते हैं तो उस राज्य का एकमुश्त शोषण भला वे कैसे कर पायेंगे? ऐसी स्थिति में यदि अंग्रेजी सरकार राजाओं के निरंकुश शासन का समर्थन करती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

परन्तु श्यामजी का देशी राजाओं से बहुत आशाएँ करना भी व्यर्थ ही था, क्योंकि भारत के राजाओं और नवाबों में स्वदेश भक्ति के भाव यदि कुछ थे, वे भी १८५७ की क्रान्ति के दमन के साथ-साथ समाप्त हो गये थे। अब वे अंग्रेज शासकों की कठपुतली मात्र रह गये थे जिन्हें चाहे जैसे नचाया जा सकता था।

श्यामजी हिन्दू-मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक थे। भारत की राजनैतिक मुक्ति के लिए वे दोनों सम्प्रदायों की एकता को अवश्यक समझते थे। जिस समय टर्की के नेता मुस्तफा कमालपाश लंदन आये तो उनके सम्मान में आयोजित एक समारोह के अवसर पर उन्होंने मुस्तफा कमाल की प्रशंसा करते हुए टर्की, मिस्र आदि देशों के स्वाधीन होने की कामना की। उन्होंने दुनिया के सभी हिस्सों में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए किये जानेवाले आन्दोलनों का समर्थन किया। आयरलैण्ड के स्वाधीनता सेनानियों के प्रति उनके हृदय में अपार सम्मान का भाव था। वे भारतवासियों से भी अपेक्षा करते थे कि संसार में जहाँ-जहाँ आज़ादी के लिए लड़ाइयाँ हो रही हैं, वहाँ-वहाँ की घटनाओं को वे ध्यानपूर्वक देखें और पराधीन देशों की विजययात्रा में वे अपने कारवाँ को सम्मिलित कर लें।

१९०७ का वर्ष १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की स्वर्ण जयन्ती का वर्ष था। परन्तु श्यामजी ने देखा कि भारत के इतिहास की इस गौरवपूर्ण घटना की स्मृति में भारत का कोई राजनैतिक दल किसी भी प्रकार का स्मृति समारोह आयोजित नहीं कर रहा है। केवल नवयुवा क्रान्तिकारियों के छोटे-छोटे दल इन महान् स्वतन्त्रतासेनानियों की स्मृति को अपने हृदयों में जगाकर देश के लिए समर्पित होने की प्रेरणा ले रहे हैं। तथापि १० मई का स्मरणीय दिन लंदन में सर्वथा भुलाया नहीं गया। विनायक सावरकर को लंदन में रहते हुए एक वर्ष पूरा हो गया था। उसने इस बीच १८५७ की क्रान्ति के सम्बन्ध में एक अधिकृत ग्रन्थ लिखने के विचारों से विविध स्रोतों से महत्त्वपूर्ण आधारभूत सामग्री एकत्रित कर ली थी। इस प्रकार १८५७ की घटनाओं के विषय में ठोस और प्रामाणिक सामग्री को पाठकवर्ग तक पहुँचाने की दृष्टि से सावरकर ने 'इण्डिया हाउस' में ही एक संक्षिप्त समारोह का आयोजन किया जिसमें ध्येयनिष्ठ एवं उत्साही कार्यकर्त्ताओं का एक वर्ग उपस्थित हुआ।

उसी दिन भारतवासी यह खबर पाकर स्तम्भित रह गये कि उनके प्राणप्रिय नेता लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह को भारत से निर्वासित कर किसी अज्ञात स्थान पर ले जाया जा रहा है।

बंग-भंग के बाद लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह का निष्कासन ही वह घटना थी जिसने सारे भारत को हिलाकर रख दिया। ब्रिटिश तानाशाही का यह निष्ठुर कार्य श्यामजी के लिए व्यक्तिगत प्रहार था, क्योंकि भारतीय नेताओं में लालाजी ही एकमात्र व्यक्ति थे जिनके साथ श्यामजी ने लंदन में रहते समय अत्यधिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। अपने पत्र के अंक में

उन्होंने लालाजी के प्रति किये गये ब्रिटिश शासन के इस दुर्व्यवहार की कड़ी आलोचना की। इस कार्यवाही को उन्होंने ब्रिटिश राज्य के पतन का दिशासूचक बताया। इस प्रसंग में उन्होंने संस्कृत की वह प्रसिद्ध सूक्ति उद्धृत की जिसमें कहा गया है कि विनाश काल समीप आने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है।[१]

लालाजी के निष्कासित किये जाने के दूसरे ही दिन ११ मई को पैरिस में वहाँ के भारतीय निवासियों की एक बैठक आजोजित की गई, जिसमें बोलते हुए मैडम भीकाजी कामा ने देशवासियों से पुरज़ोर अपील करते हुए कहा कि हम भारतवासियों को एक होकर लाला लाजपतराय के प्रति किये गये गोरी सरकार की इस अनीतिपूर्ण व्यवहार का प्रतिरोध करना चाहिए। 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' ने मैडम कामा की इस वक्तृता को प्रकाशित किया। ७ जून १९०७ को 'इण्डिया हाउस' में भारतीय नेताओं की एक सभा हुई जिसमें लालाजी के निष्कासन की भरपूर निन्दा की गई। उस समय किसे पता था कि स्वयं श्यामजी को भी साम्राज्यवादी कुचक्र का शिकार होकर एक दिन लन्दन छोड़ना होगा!

---

१. विनाशकाले विपरीत बुद्धिः ।

१६. पैरिस-गमन

श्यामजी के लिए अब इंग्लैण्ड में ऐसी परिस्थितियाँ बन गईं, जिनके कारण उन्हें इस देश को छोड़कर फ्रान्स की राजधानी पैरिस जाना पड़ा। दस वर्ष पूर्व उनके मित्र बाल गंगाधर तिलक को अपनी स्वतन्त्र विचाराभिव्यक्ति के कारण कारावास का दण्ड मिला था तो श्यामजी अपनी मातृभूमि को छोड़कर इंग्लैण्ड आ गये थे। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि भारत में रहकर वे अपने विचारों को आज़ादी के साथ प्रकट नहीं कर सकेंगे। दस वर्षों के इस काल में देश में बहुत कुछ बदलाव आ चुका था। तिलक एवं उनके अनुयायियों का दल भारत की राजनीति पर छाया हुआ था और उनकी लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी।

परन्तु श्यामजी के लिए इंग्लैण्ड में रहना अब कठिनतर हो रहा था। ऐंग्लो-इण्डियन प्रेस ने उनके विरुद्ध ज़िहाद छेड़ दिया था। 'टाइम्स' के १७ मई १९०७ के अंक में यहाँ तक लिखा गया कि भारत के विद्यार्थी जो इंग्लैण्ड में पढ़ने के लिए आते हैं, उन्हें यहाँ निवासादि की सुविधाएँ इसी शर्त पर दी जाती हैं कि वे ब्रिटिश शासन के पुर्जे बनकर कभी भी राजकीय सेवा स्वीकार न करें। इस प्रसंग में इस लेख के लेखक ने 'इण्डिया हाउस' के संचालक श्यामजी का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया, किन्तु उन्हें परोक्ष रूप में 'दुष्ट' तथा 'नीच' जैसे शब्दों से सम्बोधित किया। श्यामजी ने इस लेख के उत्तर में बस इतना ही लिखा कि 'दुष्ट' अथवा 'नीच' शब्द का अपने राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वियों के लिए प्रयोग करना ही यह सूचित करता है कि यह ऐंग्लो-इण्डियन लेखक स्वयं नीचता की किस सीमा तक जा सकता है।[1] एक अन्य लेखक सर इवान जेम्स ने 'नेशनल रिव्यू' में श्यामजी को भारत में ब्रिटिश राज्य का कट्टर विद्रोही बताया। इसके उत्तर में श्यामजी ने लिखा कि यदि किसी व्यक्ति को अपने देशवासियों को विदेशी

---

1. The word scoundrel is refreshing and just shows to what depth of meanness an Anglo-Indian can go in maligning his political opponents.

शासन से मुक्त होने की प्रेरणा देने मात्र से ही 'कट्टर द्रोही' कहा जाता है तो हमें इस शब्द से पुकारे जाने में कोई आपत्ति नहीं है। प्रसंग को समाप्त करते हुए उन्होंने लिखा- ''भारतीय स्वतन्त्रता के शत्रुओं द्वारा की गई आलोचना से हमें किंचित्मात्र भी क्रोध नहीं आता, क्योंकि इससे यह पता लग जाता है कि हमारे उपदेशों तथा शिक्षाओं का समुचित प्रभाव हो रहा है।''

इस बीच श्यामजी ने फ्रान्स के क्रान्ति गीत 'ला मार्सेल्स' का संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती तथा मराठी भाषाओं में अनुवाद किया तथा उसे प्रकाशित कराया। फ्रान्स के लुई वंश के राजाओं के अत्याचारी शासन को समाप्त करने के लिए इस गीत में वहाँ की जनता का आवाहन किया गया है। गीत में प्रकट की गई भावनाएँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए उत्सुक भारतीय प्रजा के भावों से अद्‌भुत समानता रखती हैं। यहाँ इस गीत का हिन्दी-अनुवाद दिया जा रहा है-

चलो तुम स्वदेश के सब जन
फतह का आयेगा अब दिन।
झण्डा जुल्म का खूनी
चढ़ा है रूबरू अपनी।
मैदान में सुनते हो यार
ज़ालिम शोल्जर की ललकार।
देखो तुम, आते हैं वे पास
करने पुत्र, प्रिया का नाश।
स्वदेश चलो, लो हथियार,
करो तुम पलटनें तैयार।
चलो-चलो कर दुश्मन चूर
खूनी खेत होवें भरपूर।

यह स्मरणीय है कि श्यामजी ने सशस्त्र क्रान्ति को ही भारत की स्वतन्त्रता का एकमात्र उपाय घोषित नहीं किया था। वे बार-बार कहते थे कि यदि भारत के तीस करोड़ निवासी जीवन के हर क्षेत्र में विदेशी शासन का बहिष्कार करने, उससे असहयोग करने तथा उसके आदेशों को न मानने के लिए तैयार हो जायें तो उन्हें स्वतन्त्रता मिलने में एक क्षण भी देर नहीं लगेगी। तथापि इंग्लैण्ड के शासन ने उन्हें 'ला मार्सेल्स' तथा मैडम कामा का लाला लाजपतराय के निर्वासन के प्रतिवाद में लिखे गये लेख आदि प्रकाशित करने के लिए कभी क्षमा नहीं किया। उन्हें यह ज्ञात हो गया कि 'इण्डिया हाउस' (भारत सचिव का

कार्यालय) तथा इंग्लैण्ड का गुप्तचर विभाग (स्कॉटलैण्ड यार्ड) उनके पीछे पड़ गया है। अब उनके पत्र-व्यवहार पर भी सेंसरशिप जारी कर दी गई तथा यदा-कदा अंग्रेज गुप्तचर टोह लेने के लिए उनके निवास पर आने लगे। 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' का मुद्रण करनेवाले प्रेसों से उसकी प्रतियाँ सीधे गुप्तचर विभाग में मँगाई जाने लगीं। इन बातों को देखते हुए श्यामजी ने निर्णय किया कि अब उनके समक्ष लंदन को छोड़कर अन्यत्र चले जाने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। यदि वे यहाँ रहते हैं तो उन्हें जेल की हवा खानी पड़ेगी। यदि वे ऐसा नहीं करते तो लज्जाजनक रूप में सत्ता के समक्ष आत्मसमर्पण करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के जून १९०७ के अंक में श्यामजी ने फ्रान्स के क्रान्तिगीत का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था और उसी मास वे पैरिस चले गये। उन्हें यह आशंका थी कि भारतवासियों को सशस्त्र विद्रोह करने की प्रेरणा देने के आरोप में इंग्लैण्ड की सरकार उन्हें गिरफ्तार कर सकती है। अतः वे लिखते समय पर्याप्त सतर्कता एवं सावधानी बरतने लगे थे। जब 'टाइम्स' ने अपने १६ जून के अंक में 'सोशियॉलॉजिस्ट' पर सशस्त्र क्रान्ति भड़काने का आरोप लगाया तो उत्तर में श्यामजी ने लिखा- "हमें स्मरण नहीं आता कि हमने अपने पत्र के किसी अंक में सशस्त्र विद्रोह की वकालत की हो। तथापि हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सिद्धान्ततः हम ऐसी क्रान्ति के विरोधी नहीं हैं। प्रत्येक बात का विचार सभी पहलुओं को सामने रखकर किया जाना चाहिए और हमारी यह सुनिश्चित धारणा है कि भारत में विदेशी जूए को उतार फेंकने के लिए फिलहाल शस्त्रों को हाथ में उठाने की आवश्यकता नहीं है। यह काम अन्य उपायों से भी हो सकता है।"

इंग्लैण्ड में रहकर श्यामजी ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए जिस प्रकार व्यवस्थित किन्तु उग्र प्रचार किया, उसकी चर्चा अब समाचारपत्रों से हटकर ब्रिटिश संसद में भी होने लगी। ३० जुलाई को 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में उनके सम्बन्ध में भारतमन्त्री से अनेक प्रश्न पूछे गये, यहाँ तक कहा गया कि माननीय सम्राट् की वफादार प्रजा को अपने विचारों से दूषित एवं भ्रष्ट करनेवाले इस व्यक्ति को ग्रेट ब्रिटेन से निकाला क्यों नहीं जा रहा है? यद्यपि उत्तर में भारत सचिव लार्ड मोर्ले ने शीघ्र ही ऐसी कार्यवाही करने का संकेत नहीं दिया, किन्तु अंग्रेजी पत्रों में यह प्रसंग बहुत चर्चित हुआ। 'डेली टेलिग्राफ' तथा 'डेली एक्सप्रेस' ने भड़काऊ शीर्षक देकर अपने दिल की भड़ास निकाली।

जो कुछ हो, श्यामजी ने अपने पत्र के सितम्बर के अंक में ब्रिटिश अखबारों की अपने विषय में व्यक्त की गई प्रतिक्रियाओं का जायजा लेने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला कि कोई भी भारतीय, जो राजनैतिक स्वाधीनता का समर्थक है तथा अपने देश को विदेश के अत्याचारी चंगुल से मुक्त कराना चाहता है, ब्रिटिश साम्राज्य के विशाल दायरे में कहीं भी सुरक्षित नहीं रह सकता।

१९०७ के अगस्त मास में स्टटगार्ड में 'अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस' का अधिवेशन हुआ। सौभाग्य से इसमें श्यामजी के मित्र सरदारसिंह राणा तथा मैडम कामा को सम्मिलित होने का अवसर मिला। इन दोनों ने इस अधिवेशन में भारत की स्वतन्त्रता के प्रयत्नों की ज़ोरदार वकालत की तथा सम्मेलन को भारत की आज़ादी विषयक एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पर विचार करने के लिए मना लिया। किन्तु ब्रिटिश प्रतिनिधियों के कट्टर विरोध के कारण यह प्रस्ताव मतदान के लिए खुले अधिवेशन में उपस्थित नहीं किया जा सका। तथापि मैडम कामा ने एक तीखे भाषण में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कलई खोल दी तथा उपस्थित प्रतिनिधियों के समक्ष आज़ाद हिन्दुस्तान का राष्ट्रीय ध्वज फहरा दिया। श्यामजी की विचारधारा यहाँ भी विजयी रही।

इधर ब्रिटिश शासन अपने दमन के हथकण्डों को जारी किये था। विपिनचन्द्र पाल को एक आरोप में ६ मास का कठोर कारावास दण्ड दिया गया तथा 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के भारत प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस अन्यायपूर्ण कृत्य पर टिप्पणी करते हुए श्यामजी ने लिखा- "राजनैतिक आज़ादी के हिमायती मिस्टर मोर्ले के हाथों ही आज़ादी की हत्या हो रही है। जिस व्यक्ति ने १९०२ में दक्षिण अफ्रीका से मिस्टर कार्टराइट के निष्कासन का विरोध किया था, वही व्यक्ति (मोर्ले) आज १९०७ में लाजपतराय और अजीतसिंह को बिना मुकद्दमा चलाये तथा बिना अपराधी घोषित किये देश से निर्वासित कर रहा है।"

अपने एक अन्य लेख में श्यामजी ने उन तरीकों को गिनाया, जिन्हें अपनाने से ब्रिटिश सत्ता को पंगु बनाया जा सकता था। श्यामजी द्वारा सुझाये गये ये उपाय महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्तित उस असहयोग से असाधारण समानता रखते हैं जिन्हें तेरह वर्ष पश्चात् १९२० में देशवासियों द्वारा अपनाया गया था। कुछ सुझाव निम्न थे-

१. भारतवासियों को ब्रिटिश सरकार की समस्त नागरिक तथा सैन्य सेवाओं का बहिष्कार करना चाहिए। वर्तमान में जो लोग इन नौकरियों में लगे हैं, वे त्यागपत्र दे दें।

२. समस्त भारत में एक दिन के लिए सम्पूर्ण हड़ताल रखी जाय। देश के विभिन्न भागों में भी हड़तालें आयोजित की जायें।

३. सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का छात्रगण बहिष्कार करें। इनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हो।

४. भारत के वकील और बैरिस्टर सरकारी अदालतों का बहिष्कार करें। पंचायतों के आधार पर विवादों का निर्णय किया जाये।

५. भारतवासी ऐंग्लो-इण्डियन प्रेस तथा समाचारपत्रों का बहिष्कार करें, जो भारत के हितों के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख धारण किये हुए हैं।

इसके साथ ही श्यामजी ने भारत के स्वाधीनता प्रेमियों को दुनिया के उन सभी देशों में चलाये जानेवाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये कहा जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्त होना चाहते हैं। इन देशों में उन्होंने मिस्र, दक्षिण अफ्रीका तथा आयरलैण्ड का उल्लेख किया।

परन्तु अंग्रेजी सरकार के दमनकारी रवैये को देखकर श्यामजी का विचार बदलने लगा। अब वे मानने लगे थे कि शान्तिपूर्ण क्रान्ति की सम्भावना बहुत ही क्षीण हो चुकी है, क्योंकि अंग्रेजी शासन भारतीय स्वतन्त्रता के प्रत्येक प्रयत्न को कुचलने पर तुला हुआ है। अब तो उन्होंने यहां तक कह दिया कि आज़ादी के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों को गुप्त रखा जाना चाहिए। इस प्रसंग में उन्होंने रूस में ज़ार के अत्याचारपूर्ण शासन को समाप्त किये जानेवाले प्रयत्नों की हिमायत की। जब उन्हें जापान के क्योतो नगर की इम्पीरियल यूनिवर्सिटी के एक छात्र का पत्र मिला जिसमें उन्हें सूचित किया गया था कि तोकियो में भी 'इण्डियन हाउस' की स्थापना हो गई है, तो श्यामजी के उत्साह एवं प्रसन्नता का पार नहीं रहा।

१९०७ के वर्ष का अन्त कांग्रेस में फूट के दृश्य को लेकर उपस्थित हुआ। कांग्रेस अधिवेशन उस सूरत नगर में हुआ जहाँ अंग्रेजों ने मुग़लों के राज्य में सर्वप्रथम अपनी व्यापारिक कोठी की स्थापना की थी। देश का वातावरण गरम था। लाला लाजपतराय और अजीतसिंह के निर्वासन तथा विपिनचन्द्र पाल एवं अरविन्द घोष को कारागार में रखने के कारण लोगों की भावनाएँ भड़की हुई थीं। सौभाग्य से जब लाला लाजपतराय को ६ मास पश्चात् बर्मा के माण्डले नगर की जेल से छोड़ दिया गया तो गरम दल के लोगों ने उन्हें कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर बिठाने का विचार किया, परन्तु नरमदली भला इसके लिए क्यों तैयार होते? यहाँ भी उन्होंने विजय पाई और वे डॉ० रासबिहारी घोष को अध्यक्ष बनाने में सफल हो गये। इस कूटनीति से उग्रवाद का पोषक दल क्षुब्ध हो गया। इस पर भी गरमदल के नेता तिलक इस बात पर सहमत हो गये कि यदि इस अधिवेशन में स्वदेशी, स्वराज्य, राष्ट्रीय शिक्षा तथा बहिष्कार विषयक प्रस्ताव स्वीकार कर लिये जाते हैं तो वे अपने दल के अपमान को

सहन कर लेंगे। परन्तु नरमदलियों को यह स्वीकार नहीं हुआ। प्रस्तावों की सूची से उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित प्रस्ताव हटा दिये गये। इस पर गरमदल वालों ने खुली लड़ाई लड़ने की ठान ली।

कांग्रेस की निर्धारित परम्पराओं के अनुसार सूरत का अधिवेशन आरम्भ हुआ। स्वागत समिति के अध्यक्ष पं० मदनमोहन मालवीय का भाषण समाप्त होने पर श्री अम्बालाल साकरलाल देसाई ने अध्यक्ष पद के लिए श्री रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तुत किया। यहाँ तक तो ठीक रहा, किन्तु ज्यों ही सुरेन्द्रनाथ बनर्जी प्रस्ताव का अनुमोदन करने के लिए उठे कि सभाभवन 'नहीं-नहीं' की आवाज से गूँज उठा। उस दिन की कार्यवाही स्थगित कर दी गई। दोनों पक्षों के समाधान कराने के डॉ० रदरफोर्ड के प्रयत्न भी विफल रहे। संघर्ष का प्रमुख दिन २७ दिसम्बर का था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के बोल चुकने के बाद तिलक मंच पर आये। जिस स्वयंसेवक ने उन्हें रोकना चाहा उसे उन्होंने धक्का देकर हटा दिया। मालवीय तथा रासबिहारी घोष के आदेशों-निर्देशों की परवाह न करते हुए उन्होंने घोषणा की कि वे कांग्रेस अधिवेशन को स्थागित करने का प्रस्ताव रखेंगे। इस समय कुछ नरम दलवालों ने उन्हें मंच से धकेलने का प्रयास किया। उसी समय उपस्थित लोगों में से किसी ने फिरोजशाह मेहता को लक्ष्य कर एक जूता फेंका। यह सुरेन्द्रनाथ के मस्तक से टकराता मेहता को जाकर लगा। इस पर शोर-शराबे के बीच कांग्रेस भंग हो गई।

अगले दिन दोनों दलों के बीच समझौता कराने के यत्न किये गये परन्तु वे सब निष्फल रहे। तिलक ने निराशा के स्वर में लिखा- "ऐसा लगता है कि गरम दलवालों के लिए अब कांग्रेस में कोई स्थान नहीं रहा।" ऐसा ही हुआ। गोखले की प्रेरणा से नरमदली एक बार पुनः एकत्रित हुए और उन्होंने साम्राज्य में ही उपनिवेश प्रणाली का स्वशासन प्राप्त कराना अपना लक्ष्य घोषित किया। कांग्रेस का संविधान बनाने के लिए एक समिति गठित की गई। इसका उद्देश्य गरम दलवालों को बाहर रखना था। यह स्पष्ट था कि तिलक, अरविंद तथा उन्हीं के विचारों के अन्य लोगों का कांग्रेस में रहकर कार्य करना कठिन हो गया था । तथापि, उन्होंने विदेशी सत्ता के विरोध में अपना संघर्ष जारी रखा। स्वदेश के इस घटनाचक्र को श्यामजी ने गम्भीरता से लिया।

१७. युद्ध का जयघोष

स्वदेश से हजारों मील दूर रहते हुए भी श्यामजी यहां की राजनैतिक स्थिति पर नज़र रखे हुए थे। लोकमान्य तिलक ने देश में सर्वत्र राजनैतिक चेतना जगा रखी थी। लंकाशायर के वस्त्रों का बहिष्कार करने के पश्चात् तिलक ने शराब की दुकानों पर धरना देने का कार्य आरम्भ किया। सरकार को शराब की आमदनी बंद हो जाने से भारी धक्का लगा। दुकानों पर धरना देनेवाले ४० स्वयंसेवक पकड़े गये। महाराष्ट्र की भाँति बंगाल में भी आतंकवादी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही थीं। ३० अप्रैल को खुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर में एक घोड़ागाड़ी पर बम फेंका जिसमें सवार दो अंग्रेज महिलायें मारी गईं। खुदीराम ने किंग्सफोर्ड को मारने के लिए बम फेंका था, किन्तु वह बच गया। उधर तिलक पर मुकद्दमा चलाया गया और जब जूरी ने उनको दण्डित करने की सिफारिश की तो न्यायाधीश डावर द्वारा अपनी सफाई देने के लिए कहने पर तिलक ने निर्भीक स्वर में अपने आपको इन शब्दों में निरपराधी घाषित किया- "जूरी के निर्णय के उपरान्त भी मैं अपने-आपको निर्दोष मानता हूं। व्यक्तियों और घटनाओं से भविष्य का निर्धारण करने का अधिकार किसी ऊँची सत्ता को ही प्राप्त है और यह कौन कह सकता है कि जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मैं यत्नशील हूं उसकी पूर्ति मेरे आज़ाद रहने के बनिस्बत कारावास का दण्ड भोगने से नहीं होगी!"[१] इस निर्णय के आधार पर जब २३ जुलाई को तिलक को साबरमती जेल में ले जाया गया तो देश के अनेक नगरों में बाज़ार बन्द रहे। बम्बई की मिलों में तो एक सप्ताह तक हड़ताल रही।

तिलक को इस प्रकार दण्डित किये जाने पर श्यामजी को अपार दु:ख हुआ। उन्होंने अपने पत्र का अगस्त का अंक काला बॉर्डर देकर निकाला तथा

---

1. **"Inspite of the verdict of the jury I maintain that I am innocent. There are higher powers that jude the destiny or the things and it may be will of Providence that the cause which I represent may prosper more by my suffering than by my remaining free."**

अंग्रेज अधिकारियों की इस बात के लिए कड़ी आलोचना की कि उन्होंने तिलक जैसे देशभक्त पर मिथ्या आरोप लगाकर उन्हें कारावास का दण्ड दिया है। परन्तु उन्होंने यह भी लिखा कि भारत का राष्ट्रीय संग्राम दिन प्रतिदिन उग्रतर होता जा रहा है। तिलक की गिरफ्तारी अंग्रेज सरकार के लिए अन्ततः दुखद सिद्ध होगी। निष्कर्षरूप में उन्होंने आशा व्यक्त की कि भारतवासियों पर किये जानेवाले ये अत्याचार उनकी स्वराज्य प्राप्ति की आकांक्षा को तीव्रतर बनायेंगे जिससे कि वे शीघ्रताशीघ्र अपने देश को आज़ाद करा सकें।

श्यामजी की इन गतिविधियों ने ब्रिटिश समाचारपत्रों को उनके प्रति अधिक उग्र तथा असहिष्णु बना दिया। 'डेली मेल' (पैरिस संस्करण) ने अपने ५ मई के अंक में लिखा- "अधिकारीवर्ग यह जानता है कि पैरिस में नौजवान हिन्दुओं का एक ऐसा गुट है जो भारत में ब्रिटिश राज्य के खिलाफ षड्यन्त्रों की रचना करता है। लंदन में भी ऐसे संगठन हैं। उनका एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता है जो ग्रेट ब्रिटेन पर नाज़ायज तौर पर आक्रमण करने में बंगाल के पत्रों से भी बाजी मार रहा है। 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' (यही उस पत्र का नाम है) की बड़ी संख्या में प्रतियाँ भारत में भेजी जाती हैं और भारत की देशी भाषाओं के पत्र इसे बहुशः उद्धृत करते हैं।"

इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए श्यामजी ने 'डेलीमेल' के ९ मई १९०८ के अंक में अपना निम्न वक्तव्य प्रकाशित कराया- "भारत में इस समय राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं की जैसी धरपकड़ हो रही है तथा निर्दोष देशभक्तों पर जैसे अत्याचार हो रहे हैं, उसे देखते हुए मैं यह सुस्पष्ट शब्दों में घोषित करना चाहता हूँ कि भारत पर पूर्णतया भारत के निवासियों का ही अधिकार वांछनीय है। वे ही अपने भाग्यविधाता तथा अपने विधान के निर्माता हैं।" इस प्रकार पैरिस में रहते हुए भी श्यामजी भारतीय स्वतन्त्रता अन्दोलन का समर्थन करने का कोई अवसर अपने हाथ से जाने नहीं देते थे।

इधर लंदन में उनके सुयोग्य शिष्य और अनुयायी विनायक दामोदर सावरकर स्वाधीनता के दीपक को निरन्तर जलाये रखने का प्रयास कर रहे थे। श्यामजी तथा सरदारसिंह राणा की अनुपस्थिति में उन्होंने 'इण्डिया हाउस' के संचालन का भार अपने ऊपर ले लिया था। १० मई १९०८ को १८५७ क्रान्ति की ५१वीं वर्षगांठ सावरकर ने अत्यन्त धूमधाम से मनाई। 'वन्दे मातरम्' से आरम्भ होनेवाले निमन्त्रण पत्र छपाकर वितरित किये गये तथा कार्यक्रम के अन्तर्गत राष्ट्रीय प्रार्थना के अनन्तर सम्राट् बहादुरशाह, श्रीमन्त नानासाहब, रानी लक्ष्मीबाई,

मौलवी अहमदशाह, बाबू कुंवरसिंह आदि आज़ादी के शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित की गई। इस अवसर पर 'ऐ शहीदो' शीर्षक से एक पर्चा छपाकर वितरित किया गया जिसमें १८५७ की क्रान्ति को सफल बनाने में अपना जीवन होम देनेवाले हुतात्माओं के प्रति अपनी भावांजलि अर्पित करने के पश्चात् यह कहा गया था- "स्वाधीनता प्राप्ति का जो युद्ध १० मई १८५७ को आरम्भ किया गया था, वह आज भी यथावत् चल रहा है। ऐ शहीदो! आपके खून का बदला लिया जायेगा!"

यह क्रान्तिकारी संदेश भारत के पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजा गया। इस पर रायटर ने लिखा कि शहीदों को सम्बोधित करनेवाला यह प्रचार-पत्रक श्यामजी के द्वारा लिखा गया है। यद्यपि श्यामजी ने सदा ही देश की स्वाधीनता की सिद्धि के लिए किये जानेवाले सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों का समर्थन किया था, किन्तु जिस पत्रक की चर्चा ऊपर की गई है, वह उनके द्वारा तैयार नहीं किया गया था। उस समय श्यामजी रूस में होनेवाले आतंकवादी कार्यों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर रहे थे और आयरलैण्ड के राजनैतिक आन्दोलनों की कार्यप्रणाली को भी विश्लेषण की दृष्टि से देख रहे थे। परन्तु घटनाचक्र जिस तीव्रता से घटित हो रहा था, उस स्थिति में श्यामजी के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे नवीन परिस्थिति के संदर्भ में अपने विचारों को स्पष्टता के साथ रख दें। 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के सितम्बर १९०८ के अंक में उन्होंने 'बारूद का आचारशास्त्र और भारत में ब्रिटिश तानाशाही'[1] शीर्षक अपना प्रसिद्ध निबन्ध निकाला। उसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि "विगत १५० वर्षों में अंग्रेज शासकों ने भारत की आज़ादी ही नहीं छीनी, अपितु राष्ट्रीय सम्पत्ति को भी अपने अधिकार में ले लिया तथा करोड़ों भारतवासियों को मौत के मुँह में ढ़केल दिया। ऐसी परिस्थिति में क्या देश के वासियों का यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि वे विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए सब प्रकार से यत्नशील हों? ब्रिटिश सरकार द्वारा चलाया जा रहा दण्डविधान इस बात की आज्ञा देता है कि अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए किसी विशेष स्थिति में सम्पत्ति को लूटनेवाले डाकू की हत्या कर देना भी वाज़िब है, तब भला उस स्थिति में, जबकि ब्रिटिश लोगों ने सुव्यवस्थित रूप से भारतवासियों को लूटने तथा उनकी हत्या करने के लिए अनेक उपाय निकाल रखे हैं, यदि भारतवासी उनका प्रतिकार करने के लिए युद्ध की घोषणा कर दें तो इसमें अनुचित क्या है?"

---

1. The Ethics of Dynamite and the British Despotism in India'

इस प्रकार सशस्त्र चेष्टाओं के द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति की वकालत करने पर भी श्यामजी का विश्वास था कि अभी ऐसा करने की स्थिति नहीं आई है। उनकी धारणा थी कि सब प्रकार से अंग्रेज सरकार से असहयोग करके भी स्वाधीनता अर्जित की जा सकती है। ब्रिटिश अखबार जब भारतीय देशभक्त क्रान्तिकारियों को समूल नष्ट कर देने की बातें करते तो श्यामजी का खून खौल उठता। उन्होंने अपने पत्र में लिखा- "जो अंग्रेज इटली तथा हंगरी के निवासियों की आस्ट्रिया के खिलाफ विद्रोह करने की वकालत करते हैं, तथा जो पोलैण्ड को रूस के विरुद्ध खड़ा होने की सिफारिश करते हैं, भला उन्हें क्या हक है कि वे ब्रिटिश अत्याचारों के खिलाफ विद्रोह करनेवाले भारतीयों को बुरा-भला कहें?"

पैरिस के एक समाचारपत्र L'Eclaire को इण्टरव्यू देते हुए श्यामजी ने सविनय अवज्ञा तथा बहिष्कार का पुनः समर्थन किया। उन्होंने इस संदर्भ में कहा- "जिस दिन अंग्रेज अधिकारियों को हिन्दुस्तानी नौकर नहीं मिलेंगे, पुलिस में भर्ती योग्य हिन्दुस्तानी सिपाही, सेना में भर्ती किये जानेवाले रंगरूट बनने के लिए भी कोई भारतवासी तैयार नहीं होगा, बस समझ लो उसी दिन ब्रिटिश राज्य यहाँ से समाप्त हो जायेगा।"

जब इस पत्र ने श्यामजी से आतंकवादी क्रान्तिाकारियों के विषय में सीधा प्रश्न पूछा तो उत्तर में उन्होंने कहा कि "भारत के इन वीरों को आतंकवादी या अराजकतावादी कहना ग़लत है । यदि प्रफुल्ल चाकी, खुदीराम बोस, कनाईलाल दत्त आदि ने कुछ किया है तो वह देश को अराजकता की ओर धकेलने का प्रयत्न नहीं हैं, बल्कि उनके कार्य भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की दिशा में किये गये प्रयत्न थे।" फ्रांसीसी पत्रकार ने अब उनसे सीधा सवाल पूछा- आपके कथन से ऐसा लगता है कि भारत में इधर बंगाली क्रान्तिकारियों ने जो कुछ किया है, उससे आप सहमत नहीं हैं? उत्तर में श्यामजी ने अपने आदर्श गुरु एवं दार्शनिक हर्बर्ट स्पैन्सर की यह उक्ति दोहराई- "अत्याचार का प्रतिरोध करना केवल न्यायोचित ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। अत्याचार का प्रतिकार न करना 'स्व' को ठेस पहुँचाना है, व्यापक लोकहित के लिए भी वह घातक है।"

इस प्रकार श्यामजी के विचार अधिकाधिक स्पष्ट होकर देशवासियों के समक्ष आये। उन्होंने निस्संकोच भाव से भारत में क्रान्तिकारी चेष्टाओं का समर्थन किया, साथ ही वे इस बात पर जोर देते रहे कि शान्तिपूर्ण बहिष्कार तथा विदेशी शासन के प्रति पूर्ण असहयोग के द्वारा भी उसे समाप्त किया जा सकता है। उन्होंने देश के लिए प्राण देनेवालों के त्याग और बलिदान की प्रशंसा की, किन्तु साथ ही विदेशी तानाशाही को समाप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण युद्ध का जयघोष भी किया।

१८. मदनलाल धींगड़ा का बलिदान

१९०८ ई० में ब्रिटिश सरकार ने यह अनुभव कर लिया था कि स्वतन्त्रता आन्दोलन का दमन करना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक राजनैतिक सुधारों के रूप में भारतीय जनता को कुछ दिया नहीं जायेगा, तब तक नरमदली कांग्रेसी भी सरकार का समर्थन नहीं करेंगे। यही सोचकर २ नवम्बर १९०८ को वायसराय लार्ड मिण्टो के द्वारा 'मिण्टो-मार्ले सुधारों' की घोषणा की गयी। श्यामजी ने इन सुधारों को निरर्थक और व्यर्थ बताया, क्योंकि उन्हें प्राप्त करने से भारत की स्थिति में कोई अन्तर आनेवाला नहीं था। इधर श्यामजी के सम्बन्ध विपिनचन्द्र पाल से भी अच्छे नहीं रहे। इसका कारण यह था कि पाल ने अपना क्रान्तिकारी स्वर धीमा कर दिया था और वे राजनैतिक समाधान के लिए ब्रिटिश लोगों से सहयोग की इच्छा व्यक्त कर चुके थे। श्यामजी ने पाल की आलोचना करते हुए स्पष्ट किया कि अब उन्होंने हमारा साथ छोड़ दिया है।

ब्रिटिश समाचारपत्रों ने श्यामजी के विरुद्ध लिखना बन्द नहीं किया। 'मॉर्निंग पोस्ट' ने अपने २२ दिसम्बर १९०८ के अंक में अपने पैरिस स्थित संवाददाता का एक लेख प्रकाशित किया जिसमें श्यामजी पर यह आरोप लगाया गया था कि इस भारतीय प्रवासी ने पैरिस में भारतीयों का एक गुप्त संगठन बना लिया है। यहाँ के धनी पारसियों से उसे सहायता मिल रही है। इसका विचार पैरिस आनेवाले अंग्रेजों को बमों से उड़ाने का भी है। श्यामजी ने ऐसे मिथ्या लांछनों का तीव्र प्रतिवाद करते हुए लिखा कि उन पर इस प्रकार के झूठे आरोप लगाकर लगातार फ्रेंच सरकार द्वारा उनको पैरिस से निष्कासित किये जाने की भूमिका बनाई जा रही है। 'मॉर्निंग पोस्ट' के जनवरी के अंक में उन्होंने पत्र के उक्त संवाददाता के कथन को मिथ्या बताते हुए स्पष्ट किया कि भारत के राष्ट्रवादी इतने मूर्ख, निष्ठुर तथा अकृतज्ञ नहीं हैं कि जिस देश ने उन्हें शरण दी है, उसी की धरती पर रहते हुए वे कोई ऐसा आतंकपूर्ण कार्य करेंगे जिससे निर्दोष व्यक्तियों की जानें जायें।

इधर श्यामजी पैरिस में रहकर अपने लेखों, टिप्पणियों तथा अन्य प्रकार के प्रचारात्मक कार्यों के द्वारा भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में विदेशी नागरिकों का

समर्थन प्राप्त कर रहे थे, उधर उनके तेजस्वी शिष्य विनायक सावरकर लंदन-स्थित 'इण्डिया हाउस' को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाये हुए थे। सावरकर ने १८५७ की क्रान्ति की घटनाओं तथा इतिवृत्त का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् इतिहास की इस महत्त्वपूर्ण घटना को गौरवान्वित करने की दृष्टि से 'भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध १८५७' शीर्षक एक पुस्तक लिखी। अंग्रेजी सरकार ने इसे प्रकाशित होने के साथ ही जब्त कर लिया, तथापि इसकी अनेक प्रतियाँ गुप्तरूप से भारत भेजी गईं जहाँ उसे नवीन क्रान्तिकारी आन्दोलन के धर्मग्रन्थ तुल्य सम्मान मिला। सावरकर ने ही रूसी क्रान्तिकारियों द्वारा लिखी पुस्तक 'बम बनाने की विधि' भी कहीं से प्राप्त की और उसे किसी प्रकार भारत भेज दिया। सावरकर की गतिविधियाँ धीरे-धीरे बढ़ रही थीं और 'इण्डिया हाउस' को 'रहस्यपूर्ण भवन' कहा जाने लगा था।

श्यामजी के शिष्यों और अनुयायियों के वर्ग में यह अनुभव किया जा रहा था कि केवल सैद्धान्तिक रूप से क्रान्ति और विद्रोह की बातें कहने अथवा लिखने की अपेक्षा सक्रिय होकर कुछ कर दिखाना आवश्यक है। इन लोगों की दृष्टि में केवल पत्रों में कुछ लेख लिखकर श्यामजी उनकी अपेक्षाओं के अनुकूल कार्य नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार के विचारों को सर्वप्रथम अभिव्यक्ति मिली वारीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय[1] के एक लेख में, जो उसने 'टाइम्स' के १९ मार्च १९०९ के अंक में लिखा। उसने श्यामजी के पैरिस में रहकर निश्चिन्तता का जीवन व्यतीत करने पर परोक्ष रूप में कटाक्ष किया। श्यामजी ने इसके उत्तर में कुछ अधिक स्पष्टता के साथ यह स्वीकार कर लिया कि हमने तो स्वदेश भक्ति के सिद्धान्तों के प्रचार का जिम्मा लिया है तथा इस कार्य को करने के लिए दूसरे लोगों को आगे आना होगा।[2]

इधर कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हुईं। विनायक सावरकर के भाई गणेश सावरकर को सम्राट् के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराध में आजीवन देश-निर्वासन का दण्ड मिला। जब २० जून १९०९ को लंदन के 'इण्डिया हाउस' में यह समाचार पहुँचा तो विनायक के क्रोध का पार नहीं रहा। उसने उसी समय ब्रिटिश साम्राज्य को ध्वस्त करने की प्रतिज्ञा की।

---

१. श्रीमती सरोजिनी नायडू के बड़े भाई।

२. "We have taken upon ourselves the task of preaching while that of practising is left to others."

इसके थोड़े ही दिन बाद १ जुलाई को 'इण्डिया हाउस' के एक अन्य युवक मदनलाल धींगड़ा ने कर्जन वायली की गोली मारकर हत्या कर दी। धींगड़ा उस समय यूनीवर्सिटी कॉलेज लंदन में इंजीनियरिंग का विद्यार्थी था। लंदन में रहते समय वह 'इण्डिया हाउस' में कुछ समय व्यतीत कर चुका था तथा सावरकर का उस पर प्रभाव था। धींगड़ा प्राय: कहा करता था कि अब केवल बातों से काम नहीं चलेगा, कुछ करके दिखलाना होगा। वह यह भी कहता था कि यदि भारत को विजय प्राप्त करनी है तो उसे शहीद पैदा करने होंगे। १७ अगस्त को कर्जन वायली को मारने के अपराध में मदनलाल धींगड़ा को फाँसी दे दी गयी। किन्तु उसने अपने बयानों में जो कुछ कहा वह एक सच्चे देशभक्त के अनुकूल था। बॉ स्ट्रीट के मैजिस्ट्रेट के समक्ष उसने स्वीकार किया कि भारत के निवासियों को फाँसी पर चढ़ाने तथा उन्हें निर्वासित करने का बदला लेने के लिए ही उसने एक अंग्रेज की हत्या की है। ऐसा करने से पूर्व उसने न तो किसी की सलाह ली और न किसी को इस कार्य में अपना सहभागी बनाया है। इसके लिए वह स्वयं जिम्मेवार है। उसने पुन: कहा- "एक देश, जो विदेशियों की गुलामी सहन कर रहा है, उसके सामने अपनी स्वतन्त्रता के हित में लड़ने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। एक हिन्दू होने के नाते मेरा यह विचार है कि मेरे देश का अपमान ईश्वर का अपमान है। मैं न तो धनी हूँ और न मुझमें कोई बुद्धि है। फिर भला मैं मातृभूमि के लिए अपने रक्त के अतिरिक्त और क्या अर्पित कर सकता हूँ?"[1]

हमारे देशवासियों को मृत्यु का आलिंगन करना सीखना होगा और यह सिखाने के लिए हमें स्वयं मरना होगा। इसलिए मैं मर रहा हूँ तथा इस शहादत में गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। भारत और इंग्लैण्ड के बीच का यह युद्ध तब तक चलता रहेगा जब तक एक भी भारतीय इस धरती पर जीवित रहेगा। मेरी परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह मुझे पुन: इस धरती पर जन्म दे ताकि मैं इस देश को स्वतन्त्र कराने के पुण्य कार्य में पुन: अपना शरीर अर्पित कर सकूँ और ऐसा तब तक करता रहूँ जब तक कि मेरी मातृभूमि के बंधन कट नहीं जाते। वंदे मातरम्!"

धींगड़ा के बलिदान पर लंदन के भारतीय क्रान्तिकारियों ने उसकी स्मृति

---

1. **"As a Hindu, I feel that wrong done to my country in an insult to God... poor in wealth and intellect, a son like myself has nothing to offer to the Mother but his owe blood."**

में एक वक्तव्य प्रकाशित कर स्वर्गीय देशभक्त को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी में एक उच्च राजनैतिक अधिकारी की दिन-दहाड़े हत्या ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के लिए एक खुली चुनौती थी। समाचारपत्रों में इस घटना को अनेक रंग देकर चित्रित किया जाने लगा। यह कहा गया कि धींगड़ा श्यामजी की विचारधारा का अनुयायी था। अत: यह माँग भी उठाई गई कि फ्रैंच सरकार को कहकर श्यामजी को वापस लंदन बुलाया जाना चाहिए और उन पर हत्या का अरोप लगाकर मुकद्दमा चलाना चाहिए। एक पत्र ने यहाँ तक लिख दिया कि कर्जन वायली की हत्या के आरोप में श्यामजी को अदालत के कटघरे में खड़ा करना सर्वाधिक न्यायपूर्ण होगा। इस अभियोग में जूरी का जो फैसला होगा उसे समस्त अंग्रेज जाति का निर्णय माना जायगा।

धींगड़ा का यह कृत्य श्यामजी के लिए विषम संकट लेकर उपस्थित हुआ। हमें यह लिखते हुए खेद होता है कि वे इस परिस्थिति में लड़खड़ा से गये। जब २ जुलाई को 'डेलीमेल' के पैरिस स्थित संवाददाता ने उन्हें मदनलाल द्वारा कर्जन वायली की हत्या का समाचार दिया तो श्यामजी इतने स्तम्भित हुए कि कुछ क्षणों तक तो उनके मुख से वाणी भी नहीं निकली। संवाददाता ने श्यामजी की इस हताशापूर्ण मन:स्थिति का पूर्ण लाभ उठाया और उनके विचारों को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। जब धींगड़ा के 'इण्डिया हाउस' से सम्बन्ध होने के बारे में उनसे पूछा गया तो वे प्रथम तो इस बात से सर्वथा इन्कार कर बैठे कि इस नाम का व्यक्ति कभी उनके 'इण्डिया हाउस' में रहा था। जब उनसे धींगड़ा के बारे में राय माँगी गई तो कहते हैं कि उन्होंने इसकी निंदा ही की। उनकी राय में राजनैतिक हत्याओं का औचित्य भारत में हो सकता है, किन्तु इंग्लैण्ड या किसी अन्य देश में नहीं। श्यामजी का यह वक्तव्य उनकी मित्रमण्डली तथा भारत के राष्ट्रवादी नेताओं के बीच कटु आलोचना का कारण बना। लोगों को यहाँ तक कहते सुना गया कि जो व्यक्ति भारत के राजनीतिज्ञों के ढुलमुलपन का सख्त विरोधी था तथा जो उनकी आलोचना करने में कभी पीछे नहीं रहता था, आज वह स्वयं लड़खड़ा गया है तथा उसने अपना रंग बदल लिया है। इस आलोचना के पश्चात् श्यामजी ने जान लिया कि धींगड़ा के बारे में देशवासियों के प्रबल श्रद्धाभाव की अनदेखी नहीं की जा सकती। अब उन्होंने 'टाइम्स' में एक पत्र प्रकाशित कर धींगड़ा को एक शहीद के रूप में याद किया। किन्तु उसके इस दुस्साहसपूर्ण कृत्य में स्वयं को प्रत्यक्ष या परोक्ष हाथ होने का दृढ़ता से प्रतिवाद किया। व्यक्तिश: उन्होंने कर्जन वायली की मृत्यु के लिए दु:ख प्रकट किया जिससे २२ वर्ष पूर्व वे

मिल चुके थे। धींगड़ा को केवल मौखिक या शाब्दिक श्रद्धांजलि देकर ही श्यामजी विरत नहीं हुए, उन्होंने इस शहीद की यादगार में चार छात्रवृत्तियाँ देने की भी घोषणा की।

श्यामजी की इस तीव्र प्रतिक्रिया को आधार बनाकर ब्रिटिश सरकार ने लंदन को केन्द्र बनाकर किये जानेवाले भारत के राष्ट्रवादी प्रचार को पंगु बना देने का संकल्प लिया। उसने 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' के मुद्रकों को राज्य के प्रति षड्यन्त्र रचने के आरोप में दण्डित किया। इससे श्यामजी को एक बार पुनः ब्रिटिश सरकार की आलोचना करने का अवसर मिल गया। अब उन्होंने अपने इस पत्र में ब्रिटिश शासन की कटु आलोचना करते हुए आरोप लगाया कि जो सरकार नागरिकों की रक्षा और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का ढोल पीटती है, वही पत्रों की अभिव्यक्ति-स्वतन्त्रता का गला घोंटने में कोई संकोच नहीं करती। धींगड़ा के अभियोग ने 'इण्डिया हाउस' की गतिविधियों को समाप्त कर दिया। श्यामजी कृष्ण वर्मा, सरदारसिंह राणा और विनायक दामोदर सावरकर जैसी विभूतियों द्वारा संचालित 'इण्डिया हाउस', जो किसी समय भारतीय स्वतन्त्रता का मन्दिर समझा जाता था, अन्ततः बन्द हो गया।

१९. सावरकर-प्रसंग

पैरिस में रहते हुए श्यामजी ने अपने पत्र के पुनः प्रकाशन की व्यवस्था कर ली, किन्तु 'इण्डिया हाउस' को पुनः स्थापित करना उनके लिए सम्भव नहीं हो सका। उन्होंने लंदन की अपनी अचल सम्पत्ति को बेच दिया और इस प्रकार 'इण्डिया हाउस' का भी अन्त हो गया। पैरिस में रहनेवाले राष्ट्रवादी भारतीयों के मन में अब श्यामजी के प्रति कुछ अन्यथाभाव उत्पन्न होने लगे। श्यामजी का राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सतर्क तथा सावधानी का ऐसा दृष्टिकोण, जिसे अपनाने में उन्हें स्वयं किसी प्रकार की हानि न उठानी पड़े, उनका चरमसीमा तक पहुँचा हुआ अहंकार तथा धन एवं सम्पत्ति के मामलों में उनकी स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति ने उन्हें अपने गहरे तथा विश्वसनीय मित्रों से अलग कर दिया। सरदारसिंह राणा तथा मैडम भीकाजी कामा अब पैरिस के भारतीयों के आशा केन्द्र बन गये, जबकि मदनलाल धींगड़ा के मामले में श्यामजी के अनिश्चित रवैये तथा 'इण्डिया हाउस' समाप्त कर देने के उनके कामों ने लोगों को उनसे दूर हटा दिया। अब पैरिस से लाला हरदयाल के सम्पादन में 'वंदे मातरम्' नामक एक नवीन पत्र का प्रकाशन किया गया। इसी पत्र में प्रवासी राष्ट्रवादी भारतीय अपनी आशाओं एवं आदर्शों को अभिव्यक्त करने लगे।

भारत में सावरकर के भाई गणेश सावरकर के खिलाफ राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया और नासिक के जिला मैजिस्ट्रैट मिस्टर जैक्सन ने उसे देश से निवार्सित किये जाने का दण्ड दिया। २१ दिसम्बर १९०९ को एक विदाई समारोह में उपस्थित मिस्टर जैक्सन की गोली मारकर हत्या कर दी गई। रॉलेट-कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार जैक्सन को मारने में जिस ब्राउनिंग पिस्तौल का प्रयोग किया गया था, वैसी विनायक सावकर द्वारा ही भारत भेजी गई थीं। जैक्सन की हत्या के अपराध में तीन चितपावन ब्राह्मणों को फाँसी की सजा दी गई थी।

जनवरी १९१० के अपने पत्र में श्यामजी ने इस घटना की चर्चा की और

सावरकर परिवार के प्रति अपनी सहानुभूति एवं संवेदना प्रकट की। इस बार उन्होंने जैक्सन के हत्यारे अनन्त लक्ष्मण कनाडे को एक वीर तथा शहीद के रूप में चित्रित करने में कोई संकोच नहीं किया। पूर्व की ही भाँति गणेश दामोदर सावरकर तथा हेमचन्द्र दास के आदर में दो छात्रवृत्तियाँ देने की घोषणा की। इस बार विभिन्न लोगों की स्मृति में छात्रवृत्तियों की घोषणा कर श्यामजी सस्ती ख्याति अर्जित कर रहे हैं, इस प्रकार के आक्षेप भी उन पर लगाये गये, परन्तु इन आपत्तियों का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा कि जो लोग आदर एवं सम्मान के पात्र हैं, उनकी स्मृति में छात्रवृत्तियाँ देकर हम अन्यों को भी इसी प्रकार के वीरतापूर्ण कार्य करने के प्रेरणा दे रहे हैं। यदि देशभक्त एवं गद्दार को एक ही श्रेणी में बिठा दिया जाता है तो भला स्वदेश पर बलिदान होने की भावना लोगों में कैसे जागृत हो सकेगी?

श्यामजी ने भारत के देशी राजाओं और नवाबों से अनेक प्रकार की आशाएँ लगा रखी थीं। उनकी धारणा थी कि देश को स्वतन्त्र कराने में इन लोगों का सहयोग मिलता रहेगा। परन्तु उनकी निराशा की कोई सीमा नहीं रही जब उन्होंने देखा कि ये देशी राजा अपनी प्रजा की अधिकारों को कुचलने तथा अंग्रेजी राज्य के प्रति अधिक-से-अधिक वफादारी प्रदर्शित करने में एक दूसरे से होड़ ले रहे हैं। अत: उन्होंने एक लेख में भारत के राजाओं को चेतावनी देते हुए लिखा कि यदि इस देश में अंग्रेजी राज्य की जड़ें और मजबूती के साथ जम जाती हैं तो अंग्रेजों और देशी राजाओं के स्वार्थ एक ही धरातल पर आ जायेंगे। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक रोचक दृष्टान्त दिया। किसी ने कहा था कि जिस समय न्याय का दिन आयेगा, उस समय शेर और बकरी एक साथ रह सकेंगे। इस पर मार्क ट्वेन ने लिखा- हाँ, ऐसा तो होगा, किन्तु बकरी शेर के पेट में रहेगी। यह लिखकर मानो श्यामजी ने देशी नरेशों को चेतावनी दी कि यदि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति अपने रुख में परिवर्तन नहीं किया और अंग्रेजों के पिछलग्गू बने रहे तो उनकी गति उक्त दृष्टान्त वाली बकरी की ही होगी।

भारत के राष्ट्रीय दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए उस समय पश्चिमी देशों से अनेक पत्र निकलने लगे थे। 'वंदे मातरम्' तथा 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' की चर्चा हो चुकी है। न्यूयार्क से 'हिन्दुस्तान' छपने लगा। मदनलाल धींगड़ा की स्मृति में बर्लिन से 'मदन तलवार' नामक पत्र प्रकाशित होने लगा। इसका प्रकाशन भी मैडम भीकाजी कामा ने ही किया था। यह हम देख चुके हैं कि श्यामजी के व्यवहार की रूक्षता तथा कतिपय अन्य कारणों से राणा और कामा

जैसे उनके पुराने सुहृद् अब उनकी ओर से उदासीन होने लगे थे। परन्तु श्यामजी के अन्य परिचित व्यक्तियों का दायरा बढ़ रहा था। इनमें एडवर्ड हॉल्टन (अमेरिका-निवासी) तथा सर वाल्टर स्ट्राइकलैण्ड बार्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ एक बात विचारणीय है। सावरकर की प्रसिद्ध पुस्तक '१८५७ का भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम' की समालोचना उन्होंने स्वयं न लिखकर, एक अन्य यूरोपीय मित्र से लिखवाकर अपने पत्र में प्रकाशित की। ऐसा करना आश्चर्यपूर्ण इसलिए लगता है क्योंकि हम जानते हैं कि सावरकर श्यामजी के विश्वसनीय शिष्य, मित्र और साथी थे तथा यह पुस्तक भी 'इण्डिया हाउस' में बैठकर ही लिखी गई थी।

संसार के जिस-जिस देश में आज़ादी के लिए संघर्ष छिड़ा, श्यामजी उसकी वकालत करने में कभी पीछे नहीं रहे। इस बार मिस्र की बारी आई। वहाँ के अत्याचारी प्रधानमन्त्री की जब एक मिस्रवासी राष्ट्रवादी ने हत्या कर दी तो श्यामजी ने मिस्र को गुलाम बनाये रखनेवाले पश्चिमी देशों की अच्छी खबर ली। श्यामजी की इच्छा थी कि भारत, मिस्र तथा आयरलैण्ड को मिलाकर एक संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए। इसमें उन राष्ट्रों को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकार बने हुए हैं।

जैसा कि हम लिख चुके हैं, रॉलेट-कमेटी की रिपोर्ट में यह धारणा प्रकट की गई थी कि सावरकर द्वारा यूरोप में भेजी गई पिस्तौलें ही नासिक तथा कलकत्ता आदि स्थानों में हुए आतंकवादी कार्यों में प्रयुक्त की गई थीं। चतुर्भुज अमीन ने, जो इन पिस्तौलों को भारत लाया था, बाद में पुलिस द्वारा धमकाये जाने पर यह स्वीकार किया कि मदनलाल धींगड़ा द्वारा प्रयुक्त पिस्तौल इन्हीं में से एक थी, जिससे उसने कर्जन वायली की हत्या की। आगे जाकर पता चला कि उन पिस्तौलों की सप्लाई किसी फ्रांसीसी फर्म ने की थी। सरकारी मुखबिर अमीन ने इन पिस्तौलों को भारत में भेजने के लिए सावरकर को उत्तरदायी ठहराया तो अंग्रेजी सरकार ने चाहा कि इस षड्यंत्र में सरदारसिंह राणा और हो सके तो श्यामजी को भी फँसाया जाए। इन लोगों को बचाने के लिए मैडम कामा ने पैरिस स्थिति ब्रिटिश दूतावास को एक लिखित घोषणा पत्र दिया जिसमें पिस्तौलें सप्लाई करने का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

इधर तो पिस्तौलों के मामले की जाँच स्कॉट्लैण्ड यार्ड तथा बम्बई पुलिस के द्वारा लंदन, पैरिस तथा भारत में की जा रही थी, उधर विनायक सावरकर अपनी बढ़ती हुई राजनैतिक गतिविधियों के कारण समाचारपत्रों में ख्याति अर्जित कर रहे थे। उनकी निर्भीकता तथा स्वदेश भक्ति उस समय प्रकट

हुई जब ५ जुलाई १९०९ को केस्टन हॉल की बैठक में उनहोंने खुले आम वायली की हत्या के लिए मदनलाल धींगड़ा की निंदा के प्रस्ताव का विरोध किया और सभा से उठकर चले गये। उनका तर्क यही था कि अभी हत्या का मामला अदालत के विचाराधीन है, अत: निंदा का प्रस्ताव करना अनौचित्यपूर्ण है। श्यामजी ने सावरकर की इस समय की गतिविधियों का पूर्ण विवरण अपने पत्र में दिया था। इंग्लैण्ड में सावरकर की असुरक्षा को दृष्टिगत रखते हुए श्यामजी ने उन्हें पैरिस आने का परामर्श दिया। तदनुसार वे पैरिस आकर कुछ समय के लिए रहे। किन्तु कुछ माह पश्चात् उन्होंने लंदन लौटने का निश्चय कर लिया और १३ मार्च १९१० को ज्यों ही वे लंदन के विक्टोरिया स्टेशन पर उतरे, वहाँ की पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। सावरकर की गिरफ्तारी बम्बई हाईकोर्ट के एक आदेश के अनुसार की गई थी जिसमें उन पर नासिक तथा अन्यत्र गुप्त संस्थाएँ चलाकर साम्राज्य विरोधी गतिविधियों में भाग लेने, गुप्त साहित्य का प्रचार कर षड्यंत्र करने, एवं विदेशों से घातक हथियार भारत भेजने के आरोप लगाये गये थे। इन्हीं आरोपों के कारण उन्हें अपराधी के रूप में पकड़कर भारत भेजने की प्रार्थना इंग्लैण्ड की सरकार से की गई थी। इसी आधार पर जून १९१० में ब्रिटिश न्यायालय ने सावरकर को भारत भेजने का निर्णय लिया।

इसी प्रसंग में सावरकर के जीवन की उस रोमांचक तथा साहसपूर्ण घटना उल्लेख किया जाना चाहिए, जब सावरकर को भारत ले जानेवाला जहाज फ्रांस के बंदरगाह मार्सेल्स के निकट पहुँचा तो सावरकर जलयान के स्नानागार से होकर सागर में कूद पड़े और तैरते हुये फ्रांस की धरती पर पहुँच कर ही दम लिया। जब जहाज के अधिकारियों को इसका पता चला तो उन्होंने दो नौकाओं द्वारा उनका पीछा किया तथा फ्रांस की धरती पर पहुँचकर ३०० गज दूर चले जाने पर भी उन्हें जा पकड़ा और पुन: जहाज पर ले आये। यह घटना ८ जुलाई १९१० की है। सावरकर का यह दुर्भाग्य था कि फ्रैंच भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वे फ्रांस देश की पुलिस को यह आश्वासन नहीं दे पाये कि एक राजनैतिक भगोड़ के रूप में शरण लेने के लिए ही वे फ्रांस की धरती पर आये हैं, जबकि अंग्रेज सैनिकों ने उनका पीछा करते समय 'चोर-चोर' कहकर चिल्लाना आरम्भ कर दिया था। जो कुछ हो, फ्रांस की सरकार द्वारा एक राजनैतिक कैदी को विदेशी सरकार को सौंपे जाने की तीव्र आलोचना हुई तथा फ्रांस के राष्ट्रीय पत्रों ने इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय घोटाला बताया।

जब श्यामजी और मैडम कामा को इस घटना का पता चला तो उन्होंने

फ्रांस के विख्यात समाजवादी नेता मोशियो जोरा से भेंट की। अब यह निश्चय किया गया कि इस मामले को राजनैतिक स्तर पर उठाकर फ्रांस सरकार को बाधित किया जाये, जिससे वह सावरकर को लौटाने के लिए भारत सरकार को कहे। सावरकर के इस वीरतापूर्ण कार्य की सर्वत्र प्रशंसा हुई और वे शीघ्र ही ख्याति के शिखर पर पहुँच गये। भारत में उन पर बम्बई हाईकार्ट में मुकद्दमा चलाया गया। उन पर जो आरोप लगाये गये उनमें नासिक तथा अन्य गुप्त षड्यंत्रकारी संस्थाओं की स्थापना करने, विद्रोहात्मक साहित्य को प्रकाशित करने और बाँटने तथा विदेशों से घातक हथियार भारत भेजने आदि के आरोप शामिल थे।

जब इन आरोपों का उत्तर देने के लिए सावरकर से कहा गया तो उन्होंने इतना ही कहा कि वह तो फ्रांस की धरती पर शरण ले चुके थे और उन्हें वहाँ से जबरदस्ती भारत लाया गया है, अत: वे इस अदालती कार्यवाही में किसी भी प्रकार का भाग नहीं लेंगे। अदालत ने सावरकर को इन अपराधों का दोषी पाया और उन्हें कालापनी में आजीवन कारावास भोगने की सजा सुनाई। इधर हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी अपना फैसला सुनाते हुए इंग्लैण्ड की सरकार की कार्यवाही (सावरकर को फ्रांस की धरती से पकड़कर भारत भेजने) की पुष्टि की। श्यामजी को इस फैसले की जब जानकारी मिली तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। उन्होंने अपने पत्र में सावरकर को दिये गये दण्ड के प्रति दु:ख प्रकट करते हुए उनके परिवार के प्रति संवेदना व्यक्त की। इस प्रकार लंदन में १९०५ में आरम्भ किये गये भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के नाटकीय अभिनय का पटाक्षेप हो गया।

२०. पैरिस तथा जेनेवा में

वर्ष १९११ ई० का प्रारम्भ.....

अब श्यामजी के जीवन का एक अन्य अध्याय आरम्भ होता है। उनके ऊपर आरोप लगाया जाता है कि एक ओर वे आतंकवादी आन्दोलन का समर्थन करते हैं, विदेशी सत्ता को हटाने के लिए क्रान्ति की बातें करते हैं, दूसरी ओर स्वयं आराम और निश्चिन्तता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। 'पायनियर' नामक एक ऐंग्लो-इण्डियन पत्र ने श्यामजी की आरामपूर्ण व्यक्तिगत ज़िन्दगी का चित्रण करते हुए यहाँ तक लिख दिया कि श्यामजी कृष्ण वर्मा देशभक्त नहीं, किन्तु पाखण्डी हैं, जो केवल प्रसिद्धि पाने के लिए पत्रों में गरमदल को समर्थन देनेवाली बातें लिखते रहते हैं। श्यामजी ने इन आक्षेपों और आरोपों का कभी उत्तर नहीं दिया। एक बार श्रीमती ऐनी बेसेण्ट ने इन पर यह आरोप लगाया कि वे क्रान्तिकारी कार्यों की आग में देश के लड़कों को झोंकते रहते हैं जबकि इन कामों में स्वयं आगे न आकर खुद को पीछे रखते हैं। इसके उत्तर में श्यामजी ने लिखा था- "जिस काम को करने में हम स्वयं संकोच करें, उसे अन्यों पर थोपने का प्रयत्न हमें कभी नहीं करना चाहिए। तथापि हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा काम राजनीति-विषयक कतिपय सिद्धान्तों का प्रचार करना है, उन्हें कौन कैसे क्रियात्मक रूप देता है, इससे हमें अधिक मतलब नहीं है।" आगे चलकर उन्होंने देशभक्त क्रान्तिकारियों और विप्लववादी नवयुवकों को श्रीमती बेसेण्ट द्वारा 'लड़का' कहे जाने पर आपत्ति की और स्पष्ट किया कि ऐसे देशभक्त नौज़वानों के लिए उनके दिल में सदा आदरभाव है और रहेगा।

श्यामजी की यह स्पष्टोक्ति शायद हमारे पाठकों को खटकेगी, जिसमें उन्होंने कहा था कि वे तो मात्र सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाले हैं, जबकि उन्हें क्रियान्वित करने का कार्य दूसरों का है। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि निरन्तर गिरते हुए स्वास्थ्य तथा कतिपय अन्य कारणों से श्यामजी की प्रवृत्तियाँ अब अपने प्रचारतन्त्र को बल प्रदान करने तक सीमित रह गई थीं और इस तथ्य

को उन्होंने अपनी ढलती आयु, बिगड़ते हुए स्वास्थ्य तथा एक विशिष्ट मन:स्थिति का परिणाम बताते हुए स्वीकार भी किया था। इस प्रकार १९११ की जनवरी में श्यामजी ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि वे अपने सम्पूर्ण जीवन में इसी प्रकार की निंदा तथा कुत्सा का शिकार बनते रहे, तथापि वे भविष्य में भी अपने कर्त्तव्यपथ से विचलित नहीं होंगे, यही विश्वास वे अपने पाठकों को दिला सकते हैं। कहना नहीं होगा कि श्यामजी ने अपनी इस प्रतिज्ञा को निभाया। संसार में जहाँ कहीं उन्हें अत्याचार और उत्पीड़न नज़र आता, वे उसका विरोध करने के लिए सदा तत्पर रहते। मिस्र को स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो, इस विषय पर सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लिखने के लिए उन्होंने १००० फ्रैंक के एक पुरस्कार की घोषणा मिस्री शहीद वरदानी की स्मृति में की।

अप्रैल १९११ में श्यामजी ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति टफ्ट को एक पत्र लिखकर उन्हें इस बात की चेतावनी दी कि वे सबसे बड़े लुटेरे तथा अन्य देशों को गुलाम बनानेवाले इंग्लैण्ड के साथ किसी प्रकार के समझौते पर हस्ताक्षर न करें। उन्हें इस बात पर भी बड़ी आपत्ति थी कि अमेरिका के राष्ट्रपति ने इंग्लैण्ड का उल्लेख 'मातृदेश' (Mother Country) कहकर किया है। इस पत्र को लिखने में उनका अभिप्राय यही था कि जो अमेरिका सदा से स्वतन्त्रता का पक्षधर रहा है, उसे इंग्लैण्ड जैसे देश के साथ कोई सांठ-गांठ नहीं करनी चाहिए, जो अन्य देशों को गुलामी के बन्धनों में जकड़े रखना चाहता है।

जर्मनी के एक प्रसिद्ध पत्र Die Zeit Schrift के मार्च १९११ के अंक में श्यामजी ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए किये जानेवाले क्रान्तिकारी प्रयत्नों का विस्तार से उल्लेख किया। उनका यह विश्वास था कि ऐसे समय में, जबकि इंग्लैण्ड के सभी समाचारपत्र जर्मनी के खिलाफ प्रचार में लगे हुए हैं, उनका यह लेख अपार सनसनी पैदा करेगा। प्रथम महायुद्ध में भारत के क्रान्तिकारियों ने जर्मनी के साथ जिस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये थे, इस लेख ने उसकी आधारभूमि तैयार कर दी थी।

भारत के राजनैतिक मंच पर इन दिनों जो कुछ घटित हो रहा था, उसका तथ्यात्मक मूल्यांकन करने में भी श्यामजी ने कोताही नहीं की। उन्होंने अपने-आपको भारत का मित्र कहनेवाले विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई कांग्रेस की वार्षिक बैठक की आलोचना की, श्रीमती बेसेण्ट की तथ्यहीन बातों का खण्डन किया और श्री गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा प्रस्तुत किये गये शिक्षा-विषयक बिल की कटु आलोचना की। उनकी दृढ़ धारण थी कि भारत को गुलाम बनाने में

तथाकथित शिक्षित भारतीय नागरिकों का योगदान कम नहीं है।

दिसम्बर १९१२ ईसवी में जार्ज पंचम में राज्यारोहण के उपलक्ष्य में दिल्ली में विशाल दरबार का आयोजन किया गया। श्यामजी ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि दरबार की सफलता को लेकर जो दावे सरकार की ओर से किये गये हैं, वे सब खोखले हैं। बंग-भंग को समाप्त करने से लोगों को जरूर कुछ राहत मिली है, परन्तु अंग्रेजी सरकार को इस खुशफहमी में नहीं रहना चाहिए कि भारत में विद्रोह की शक्तियाँ समाप्त हो गई हैं। दिल्ली दरबार का एक प्रयोजन जहाँ लोगों को यह बताना था कि भारत में राष्ट्रीय गतिविधियों के लिए कोई भविष्य नहीं है, वहाँ इस दरबार के आडम्बरपूर्ण आयोजन का एक अन्य कारण भारत के देशी राजाओं के समक्ष ब्रिटिश शक्ति का प्रदर्शन करना तथा उन्हें यह समझाना था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य जैसी महान् हस्ती के नीचे रहकर अपने-अपने रजवाड़ों का शासन कर रहे हैं। इसी उद्देश्य से राजाओं को इस प्रकार के स्पष्ट निर्देश दिये गये थे कि उन्हें सम्राट् के समक्ष किस प्रकार दरबारी शिष्टाचार का पूर्ण पालन करते हुए आना है और बिना पीठ दिखाये लौटकर पुन: अपने स्थान को ग्रहण करना है। सब कुछ नियमानुसार हो रहा था, किन्तु बड़ौदा के गायकवाड़ ने अपने व्यवहार से सारे दरबार में खलबली मचा दी। वे अपने स्थान से उठे और अत्यन्त अनौपचारिक रूप से सम्राट् से हाथ मिलाकर उन्हीं की ओर पीठ करते हुए लौटे और अपनी जगह पर बैठ गये। श्यामजी ने इस कृत्य के लिए महाराज की प्रशंसा की तथा उन्हें बधाई दी। परन्तु ब्रिटिश समाचारपत्र गायकवाड़ के पीछे पड़ गये और उन्होंने श्यामजी कृष्ण वर्मा के साथ उनके सम्बन्धों की चर्चा करते हुए सरकार को यहाँ तक सुझाव दे डाला कि गायकवाड़ को बड़ौदा की गद्दी से पृथक् कर देना चाहिए। इन आक्षेपों के उत्तर में श्यामजी ने ब्रिटिश सरकार तथा देशी नरेशों की सम्बन्धों की विवेचना उन संधियों के संदर्भ में की जो उन दोनों के बीच चुकी थीं और जिनसे राजाओं को ब्रिटिश सरकार का मित्र और सहायक समझा जा सकता था, न कि आज्ञाकारी गुलाम। तथापि, उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि सयाजीराव गायकवाड़ से उनकी भेंट जून १९०७ के बाद कभी नहीं हुई थी। इसलिये बड़ौदा नरेश के किसी आचरण के लिए उनके तथा श्यामजी के व्यक्तिगत सम्बन्धों को उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है।

यह हम लिख चुके हैं कि संसार के किसी भी देश के स्वतन्त्रता अर्जित करने के प्रयत्नों तथा उनमें प्राप्त होनेवाली सफलता का समाचार पाकर श्यामजी

को अपार प्रसन्नता होती थी। जब उन्हें यह जानकारी मिली कि चीन में मंचू राजाओं का शासन समाप्त हो गया है तथा डॉ० सन यातसेन के नेतृत्व में वहाँ क्रान्ति सफल हो गई है, तो उन्होंने ४० करोड़ चीनी जनता को बधाई देते हुए सम्राटों के यंत्रणादायी शासन से मुक्ति प्राप्त कर लेने पर खुशी ज़ाहिर की।

१९१२ के अगस्त मास में श्यामजी को इन समाचारों से अतीव प्रसन्नता हुई कि यूरोप के अनेक देशों के लोग सावरकर को कालापानी भेजे जाने के दण्ड से मुक्त करने के लिए नाना प्रयास कर रहे हैं। इंग्लैण्ड, स्विट्जरलैण्ड तथा इटली में इस प्रकार के प्रयास किये गये थे, यह जानकारी श्यामजी को मिली। रूस के महान् लेखक मैक्सिम गोर्की ने जब वे इटली में थे, श्यामजी को एक पत्र लिखा तथा उनसे 'रशियन रिव्यू' नामक एक पत्र के लिए भारत के स्वतन्तत्रा के हित किये जा रहे प्रयत्नों पर एक विस्तृत लेख भेजने की माँग की। इस पत्र में गोर्की ने श्यामजी को 'भारत के मैजिनी' के रूप में स्मरण किया तथा आशा प्रकट की कि अपने देशवासियों की आज़ादी के प्रति तड़प को जितनी अच्छी प्रकार से वे रूस देशवासियों को बता सकते हैं, दूसरा नहीं बता सकता।

२३ दिसम्बर १९१२ को जब लार्ड हार्डिंज एक सरकारी समारोह में हाथी पर सवार होकर दिल्ली के चाँदनी चौक में से गुज़र रहे थे, उन पर बम फेंका गया जिससे महावत मारा गया किन्तु वायसराय बाल-बाल बच गये। इस घटना पर उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्यामजी ने अमेरिका के पत्र 'सन' (Sun) के प्रतिनिधि को कहा कि राजनैतिक हत्याएँ क्रान्ति-चेष्टाओं की प्रस्तावना मात्र होती हैं। जब तक प्रभावपूर्ण ढ़ंग से नहीं कहा जाता तब तक किसी बात की सुनवाई नहीं होती। डाकुओं और लुटेरों से तर्क-वितर्क नहीं किया जाता, उन्हें तो ठोकर मारकर गिराना पड़ता है। आज़ादी प्राप्त करने के लिए जो भी शक्ति प्रदर्शित की जाती है, उसका औचित्य स्वत: सिद्ध है। भारतवासी पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त किये बिना चैन नहीं लेंगे और वे यह भी जानते हैं कि यह आज़ादी उन्हें यों ही मिलनेवाली नहीं है। अमेरिका के इस पत्र ने श्यामजी के इन विचारों को प्रकाशित करते हुए इसका शीर्षक दिया- 'क्रान्तिकारी के विचारों में हार्डिंज की हत्या का प्रयत्न न्यायोचित है।'

१९१३ का वर्ष यूरोप में महायुद्ध की सम्भावना लेकर आया। चम्पकरमण पिल्लई नामक एक दक्षिण भारतीय युवक ने जून १९१२ में ज्यूरिख में भारत की स्वतन्त्रता के समर्थन में एक संगठन की नींव डाली। श्यामजी का पिल्लई से निरन्तर पत्र व्यवहार के द्वारा सम्पर्क रहता था। 'पराधीन देशों को स्वतन्त्रता

प्राप्त करने का अधिकार स्वयंसिद्ध है', यह धारणा लेकर श्यामजी ने समय-समय पर डच उपनिवेश जावा, अंग्रेजों के प्रभुत्व के नीचे कुचले जा रहे मिस्र तथा माल्टा के स्वातन्त्र्य युद्धों का भी समर्थन किया।

१९१४ ई० का वर्ष.....

यूरोप के वातावरण में बारूद की गन्ध बस गई थी। आसन्न युद्ध का संकट लोगों को भयभीत कर रहा था। अप्रैल १९१४ में सम्राट् जार्ज ने पैरिस की यात्रा की। उस समय ऐसा लगा कि महायुद्ध की घोषणा होते ही पैरिस में बसे राष्ट्रवादी भारतीयों का वहाँ रहना दुष्कर हो जायेगा। श्यामजी ने आनेवाले संकट को समय रहते भाँप लिया और १९१४ के वसन्त में वे जेनेवा चले गये, जहाँ उन्होंने मृत्यु पर्यन्त निवास किया। फ्रांस छोड़कर स्विट्जरलैण्ड जा बसने के सम्बन्ध में उन्होंने अपने पत्र में लिखा- "गत अप्रैल में जब सम्राट् जार्ज पैरिस आये तो फ्रांस की पुलिस ने इंग्लैण्ड की सरकार के कहने में आकर हमें एक विदेशी के रूप में अपना निवास सम्बन्धी प्रमाणपत्र पेश करने के लिए कहा।" इतना ही नहीं, इस बीच उनके विरोधियों ने यह प्रयत्न किया कि लाला हरदयाल तथा अन्य स्वाधीनचेता भारतीय क्रान्तिकारियों से उनके मतभेदों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाये तथा पत्रों में उन्हें बदनाम किया जाये। श्यामजी ने इस प्रकार की प्रयत्नों की तीव्र आलोचना करते हुए स्पष्ट किया कि हरदयाल तो उन्हीं के द्वारा प्रदत्त शहीद स्मारक-छात्रवृत्ति लेकर इंग्लैण्ड आये थे। उन्हें सबसे बड़ी पीड़ा यह देखकर होती थी कि आज उनको आलोचना और अपमान का शिकार वे ही लोग बना रहे हैं जो भारत के स्वातन्त्र्य युद्ध में उनके सर्वाधिक निकट के साथी रहे हैं! कुछ महीनों पश्चात् युद्ध की ज्वालाएँ भड़क उठीं और सारा यूरोप उसकी लपेट में आ गया।

अब जेनेवा में रहते हुए श्यामजी ने जुलाई १९१४ से 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' का द्विभाषी संस्करण अंग्रेजी तथा फ्रेंच में निकालना आरम्भ किया। १७ जून १९१४ को तिलक को माण्डले जेल से मुक्ति मिल गयी थी। श्यामजी ने उनके कारागार से मुक्त होने पर हर्ष प्रकट करते हुए उन्हें परामर्श दिया कि वे भारत छोड़कर स्विट्जरलैण्ड आ जायें, ताकि यहाँ रहकर वे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए उन्मुक्त प्रयत्न कर सकें। ऐसा लिखने में श्यामजी का अभिप्राय शायद यही था कि भारत के पराधीन वातावरण में रहकर देश की स्वाधीनता के लिए खुली आवाज़ उठाना शक्य नहीं है, जबकि पश्चिम के स्वाधीन देशों में रहकर कोई भी व्यक्ति किसी भी देश पर होनेवाले अत्याचारों

के विरोध में विश्वमत को जगाने के लिए स्वतन्त्र है। ४ जुलाई को उन्हें जेनेवा नगर के स्विस प्रजातन्त्र में प्रवेश की शताब्दी के उपलक्ष्य में मिस्री नागरिकों द्वारा आयोजित एक भोज में सम्मिलित होने का अवसर मिला। इस समारोह में बोलते हुए उन्होंने मिस्रियों से अपील की कि वे अंग्रेज राजनीतिज्ञों की कूटनीतिक चालों से सतर्क रहें तथा ब्रिटिश साम्राज्य के सभी शत्रुओं के साथ मिलकर एक लक्ष्य हो, साम्राज्यवादी जुए से मुक्त होने हेतु प्रयत्न करें।

जब युद्ध अपने चरम पर था तो स्विस सरकार ने उन्हें अपना पत्र बन्द करने के लिए कहा। इस पर पाठकों से विदा लेते हुए श्यामजी ने अपने सम्पादकीय में लिखा- ''पैरिस से विदा लेकर जब हम यहाँ आये, तब तक हमारा विचार इस पत्र को नियमित रूप से चलाकर भारत की स्वतन्त्रता हेतु प्रचारतन्त्र को सम्यक् रीति से चलाने का था। परन्तु कुछ परिस्थितियाँ मनुष्य के नियन्त्रण से बाहर होती हैं। अब युद्ध की घोषणा हो जाने के कारण प्रेस तथा वाणी की स्वतन्त्रता किसी सीमा तक प्रतिबन्धित कर दी गई है। इस युद्ध में स्विट्जरलैण्ड की सरकार पूर्ण तटस्थता बरत रही है। ऐसी परिस्थिति में मुझ जैसे परदेशी के लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि वह सरकार द्वारा लगाये गये नियन्त्रणों का पूर्ण पालन करे, जिसने ऐसे देश में आकर शरण ली है जो परम्परागत दृष्टि से पूर्ण तटस्थ तथा स्वतन्त्र रहा है। इसलिए जब तक यूरोप में युद्ध चलता रहेगा, हमें अपनी अभिव्यक्ति पर नियन्त्रण लगाना होगा, चाहे ऐसा करना हमारे लिए कितना ही दुखद क्यों न हो! तथापि हम यह घोषणा करते हैं कि जिस अवधि में 'इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट' का प्रकाशन बन्द रहेगा, उसी बीच हम अपनी शक्तियों को 'भारतीय राष्ट्रवाद की उत्पत्ति, विकास तथा सम्भावनाएँ' शीर्षक एक ग्रन्थ के लिखने में लगायेंगे। इससे इतना पता तो चलेगा कि हमारी यह क्षणिक चुप्पी अकारण नहीं है और हम लगातार परिश्रमरत हैं।''

जिस ग्रन्थ को लिखने की प्रतिज्ञा श्यामजी ने की थी, वह कभी लिखा ही नहीं गया। प्रथम महायुद्ध में इंग्लैण्ड और उसके मित्र देशों की विजय ने श्यामजी के सभी स्वप्नों को ध्वस्त कर दिया, यद्यपि वे वर्साय की सन्धि के पश्चात् भी जेनेवा में ग्यारह वर्षों के सुदीर्घ काल तक अपनी जीवन यात्रा चलाते रहे।

२१. जीवन-सन्ध्या

घटनाचक्र तीव्र गति से चल रहा था। चम्पकरमण पिल्लई ने जेनेवा में अपने प्रचार कार्य को छोड़कर बर्लिन में जर्मनी के विदेश-विभाग की सहायता से 'इण्डियन नैशनल पार्टी' की स्थापना की। उन्हें इस कार्य में वारीन्द्र चट्टोपाध्याय, तारकनाथ दास तथा बरकतुल्ला आदि स्वाधीनचेता पुरुषों का सहयोग मिल रहा था। इधर लाला हरदयाल पैरिस छोड़कर १९११ में केलिफोर्निया पहुँचे तथा 'ग़दर पार्टी' को जन्म दिया। कामागाटामारू नामक जहाज से आये भारतीयों को कलकत्ता-बंदरगाह पर उतरने ही नहीं दिया गया, बल्कि उन पर गोलियाँ चलाई गई। देश में भी अनेक स्थानों पर आतंकवादी चेष्टायें हो रही थीं तथा सरकार का दमनचक्र पूरे जोर से चल रहा था।

सदा की भाँति श्यामजी इस समय भी भारत की राजनीति तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन की नब्ज पकड़े हुए थे। तथापि स्विस सरकार को दिये वचन के अनुसार उन्होंने महायुद्ध के दौरान भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखा। कॉन्सटेंस झील के रमणीय किनारे पर स्थित एक भव्य भवन में वे अपना सुखी जीवन व्यतीत कर रहे थे। यह सत्य है कि इस बीच उनके पुराने सहयोगी लाला हरदयाल तथा अन्य क्रान्तिकारियों से उनके सम्बन्धों में अब पहले जैसी मधुरता नहीं रही थी। इधर विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय ने उन्हें बहुत हताश कर दिया, क्योंकि वे जानते थे कि महायुद्ध में इंग्लैण्ड की विजय हो जाने से भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना और भी कठिन हो जायेगा।

जब महायुद्ध के बाद अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने 'लीग ऑफ नेशन्स' की स्थापना की, तो उनके हृदय में एक नवीन आशा जागृत हुई। ८ जनवरी १९१६ को उन्होंने राष्ट्रपति विल्सन को एक पत्र लिखा जिसमें राष्ट्रपति के नाम पर एक व्याख्यानमाला स्थापित करने तथा तदर्थ १०,००० फ्रैंक देने का प्रस्ताव किया। वे चाहते थे कि यह व्याख्यान 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का रक्षण' विषय पर दिये जायें। परन्तु उनका यह सुझाव स्वीकार नहीं हो सका। इसी

बीच उन्होंने १०,००० रुपये की एक अन्य राशि 'प्रेस एसोसिएशन, जेनेवा' को उपर्युक्त प्रकार की एक अन्य व्याख्यानमाला जारी करने के लिए दी।

श्यामजी का लोकमान्य तिलक के प्रति आदरभाव एक सुविदित तथ्य है। तिलक के कारावास से छूटने तथा भारत के सार्वजनिक जीवन में पुनः प्रतिष्ठित होने के उपलक्ष्य में श्यामजी ने 'तिलक स्मारक योजना' बनाई तथा तिलक के सम्मान में एक व्याख्यानमाला हेतु १०,००० रुपये प्रदान किये। इस व्याख्यानमाला के लिए व्याख्याता के चुनाव करने, स्थान तथा समय निश्चित करने आदि के लिए उन्होंने महात्मा गाँधी को नियुक्त किया।

इसी बीच देश के सार्वजनिक जीवन तथा राजनैतिक चिन्तन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुके थे। महात्मा गाँधी द्वारा चलाया गया अहिंसात्मक असहयोग तथा सविनय अवज्ञा के आन्दोलन लोकप्रिय हो चले थे। कांग्रेस ने भी इन कार्यक्रमों को स्वीकार कर लिया था। श्यामजी ने भी शान्तिपूर्ण बहिष्कार की नीति पर अनेक बार जोर दिया था। उनकी धारणा थी कि ऐसा करने से हम विदेशी शासन से छुटकारा पा सकते हैं। गाँधी जी का असहयोग कार्यक्रम उनके इस बायकाट के सिद्धान्त के काफी निकट था और भारत की जनता ने भी उसे उन्मुक्तभाव तथा उल्लास-भरी वाणी से स्वीकार कर लिया था।

श्यामजी अपने समकालीन अन्य क्रान्तिकारियों की भाँति लक्ष्यपूर्ति की असफलता को देखकर हताश, निराश एवं भग्नहृदय हो चुके थे। यह सब कुछ होने पर भी वे अपने राजनैतिक सिद्धान्तों के प्रति पूर्णतया दृढ़ रहे। उन्होंने भारत की नरमदली राजनीति को अपने व्यंग्य बाणों का निशाना बनाने में कभी संकोच नहीं किया। 'लीग ऑफ नेशन्स' के द्वितीय अधिवेशन में भारत के प्रतिनिधियों के रूप में सम्मिलित होनेवाले कच्छ के महाराजा तथा माननीय श्रीनिवास शास्त्री के प्रति उन्होंने तीखी आलोचनापूर्ण शैली में कुछ बातें लिखीं। कच्छ-नरेश के बारे में उन्होंने इतना ही लिखा कि वे भारतीय नरेशों के प्रतिनिधि के रूप में अधिवेशन में नहीं आये थे, बल्कि उन्हें भारत की गोरी सरकार ने अपने मनोनीत प्रतिनिधि के रूप में वहाँ भेजा था।

पं० श्रीनिवास शास्त्री के सम्बन्ध में उनके शब्द अधिक कठोर थे। उन्होंने लिखा- "शास्त्री जी उन गोपाल कृष्ण गोखले के शिष्य हैं जिन्होंने भारत और ब्रिटिश साम्राज्य के सम्बन्ध को दैवी विधान घोषित किया था।" आगे उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आधुनिक इतिहास विभाग के प्रोफेसर श्री गोल्डविन स्मिथ के भारत विषयक एक लेखांश को इस प्रकार उद्धृत किया-

"जो लोग भारत में ब्रिटिश राज्य को ईश्वरीय वरदान कहते हैं, उनका यह कथन वैसा ही है जैसा किसी चोर का यह कथन कि यह चोरी का बटुआ दैव ने उसकी जेब में डाल दिया है।" आगे जाकर भारत के लिए औपनिवेशिक शासन की माँग करनेवाले नरमदली राजनीतिज्ञों को खरी-खरी सुनाते हुए श्री स्मिथ ने लिखा- "ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की दृष्टि में भारत को औपनिवेशिक प्रणाली का स्वराज्य देने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि भारत कोई ब्रिटिश उपनिवेश नहीं है, इसे तो केवल उन्होंने जीतकर हासिल किया है।"

इस प्रकार नरमदली राजनीतिज्ञों की पोल खोलकर श्यामजी ने स्पष्ट कर दिया कि ये वे लोग हैं जो ब्रिटिश साम्राज्य के मज़ार पर दिया जलाते हैं, जबकि उनकी स्वयं की निष्ठा मातृभूमि को विदेशी सत्ता के जुए से पूर्णतया पृथक् करने में है। श्यामजी साम्राज्यवादी ब्रिटेन के विरोधी तो थे, किन्तु प्रजातांत्रिक भावों में असीम निष्ठा रखनेवाले तथा स्वतन्त्रता के हेतु भारत के प्रयत्नों की सराहना करनेवाले अंग्रेजों के प्रति उनके हृदय में पूर्ण सम्मान था। 'जस्टिस' नामक पत्र के सम्पादक श्री एच० एम० हिण्डमैन एक ऐसे सज्जन थे जिनसे श्यामजी की व्यक्तिगत घनिष्ठता थी। उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा- "हमारे शत्रुगण हम पर आरोप लगाते हैं कि हम अंग्रेज मात्र से घृणा करते हैं, किन्तु यह बात सत्य नहीं है। हम हर्बर्ट स्पैन्सर, एडमण्ड बर्क तथा डॉ० रिचर्ड कॉन्ग्रीव जैसे व्यक्तियों का सम्मान करते हैं जो मनुष्य की मूलभूत स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रों की आज़ादी के सदा पक्षपोषक रहे हैं।" वस्तुत: श्यामजी उन सभी व्यक्तियों के प्रति अपना आदर प्रकट करते थे जो भारत की स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। उनके विचारानुसार मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्त कराने के लिए प्रत्येक प्रकार के उपाय अपनाने चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति से सहायता लेनी चाहिए।

उत्तरोत्तर बढ़नेवाली आयु तथा निराशा के कारण श्यामजी को १९२३ में अपने पत्र का प्रकाशन बंद कर देना पड़ा। अब उनकी राजनैतिक प्रवृत्तियाँ और भी सीमित हो गईं। इधर रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना के साथ विश्व-क्षितिज पर एक नई शक्ति उभर आई। १९२७ में रूसी क्रान्ति की दसवीं वर्षगाँठ के अवसर पर पं० मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू तथा एस० श्रीनिवासन अयंगर आदि नेता यूरोप के भ्रमण के लिए आये। इनमें अकेले पं० जवाहरलाल नेहरू ने ही जेनेवा जाकर भारत की सशस्त्र क्रान्ति चेष्टाओं के आद्य प्रवर्तक पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा से भेंट की तथा इस वृद्ध महापुरुष के प्रति अपना

सम्मान प्रकट किया। इसी वर्ष काशी निवासी बाबू शिवप्रसाद गुप्त का यूरोप आगमन हुआ। वे जर्मनी के फ्रैंकफर्ट नगर में आयोजित एक विश्व सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने आये थे, जिसमें संसार के उन राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को एकत्र होना था जो अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा गुलाम बनाकर रखे जा रहे हैं। उन्होंने फ्रैंकफर्ट जाते समय और वहाँ से भारत लौटते समय, दोनों बार जेनेवा में रुककर श्यामजी से भेंट की। गुप्त जी श्यामजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा भव्य मुखमुद्रा से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उनके चरणों में पुष्प अर्पित कर भारतीय पद्धति से इस महापुरुष की साक्षात् पूजा की।

श्यामजी के अवशिष्ट जीवन की घटनाएँ इतनी स्वल्प हैं कि उन्हें कुछ ही पृष्ठों में लिखा जा सकता है। उनकी राजनैतिक गतिविधियाँ समाप्त हो चुकी थीं तथा उनका जीवन पूर्वापेक्षा एकाकी रह गया था। अत: अब वे अपने वित्तीय साधनों को बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान देने लगे। यूरोप के शेयर बाज़ार की प्रवृत्तियों का उन्होंने लगभग एक चौथाई शती तक अध्ययन किया, अत: शेयरों में पूँजी लगाकर प्रचुर द्रव्योपार्जन करना उनके लिए कठिन नहीं था। वे प्राय: प्रतिदिन जेनेवा के शेयर बाजार में आते तथा वहाँ के कारोबार में हिस्सा लेते। अपनी मितव्ययतापूर्ण आदतों के लिए भी वे चर्चित हो चुके थे। वे 'जेनेवा प्रेस क्लब' के सदस्य थे। क्लब की बैठकों में सम्मिलित होने तथा समाचारपत्र सम्पादकों तथा पत्रकारों से सम्पर्क रखने के कारण उन्हें विश्व समस्याओं की पूरी जानकारी मिलती रहती थी। कभी-कभी वे अपनी पत्नी के साथ नाटक आदि देखने भी चले जाते थे।

इसी बीच श्रीमती भानुमति बीमार पड़ीं और पर्याप्त समय तक उनका उपचार चलता रहा। वे ठीक हो गईं और अब वर्मा दम्पती की जीवन यात्रा पुन: यथापूर्ण चलने लगी। पत्नी के स्वास्थ्य लाभ करने के उपरान्त श्यामजी ने अपनी दिनचर्या का पुराना ढंग एक बार फिर अपनाना चाहा। किन्तु बुढ़ापे तथा शारीरिक दुर्बलता ने उन्हें जकड़ लिया। अब उन्होंने अपने खान-पान को अधिक संयत तथा नियमित किया। उनकी धारणा थी कि भोजन संयम द्वारा वे शतायु हो सकेंगे। पर्याप्त सावधानी और संयम बरतने पर भी उनका स्वास्थ्य जवाब देने लगा। पहले तो उनकी आँखों में पीड़ा बढ़ी और १९३० के आरम्भ में उनके स्वास्थ्य में असाधारण गिरावट आ गई। आँतों में कष्ट बढ़ गया। डॉक्टरों से परामर्श किया तो उन्होंने शल्यक्रिया करने के लिए कहा। ऑपरेशन से अस्थायी लाभ मिला, किन्तु कुछ समय पश्चात् रोग की पुनरावृत्ति हुई और ३१ मई १९३० को सायं ६

बजे श्यामजी ने अपनी साध्वी पत्नी भानुमति की उपस्थिति में परलोक के लिए प्रस्थान किया।

भारत के स्वाधीनता संग्राम का मंत्रद्रष्टा तथा सशस्त्र क्रान्ति चेष्टा का आद्य प्रस्तोता अपनी इहलीला समाप्त कर चुका था। तीन वर्ष पश्चात् २२ मई १९३३ को पत्नी भानुमति ने भी परलोक के लिए प्रस्थान किया। दोनों की अन्त्येष्टि क्रिया सेंट जार्ज के अन्त्येष्टि स्थल पर सम्पन्न हुई। जिस स्थान पर उनकी भस्म और अस्थियों को भूमिस्थ किया गया, वहाँ संगमर्मर की एक छोटी पट्टिका पर निम्न लेख अंकित किया गया-

भानुमति कृष्ण वर्मा	श्यामजी कृष्ण वर्मा
१८६२-१९३३	१८५७-१९३०

यह एक संयोग ही था कि श्यामजी के महाप्रस्थान से कुछ मास पूर्व ही लाहौर के अधिवेशन में कांग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' को अपना प्रमुख लक्ष्य घोषित कर दिया। जिस दिन उन्होंने परलोक यात्रा की, ठीक उसी दिन गाँधी जी ने दांडी-यात्रा कर असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात किया था। भारत के पत्रों में श्यामजी की मृत्यु की अधिक चर्चा नहीं हुई, तथापि कुछ पत्रों ने उनके जीवन एवं कार्यों पर विशेष लेख लिखे। यह दूसरी बात है कि ब्रिटिश अखबारों ने श्यामजी को साम्राज्य के लिए घोर अनिष्टकारी एवं विध्वंसक प्रचारक के रूप में स्मरण कर अपने कलुषतापूर्ण उद्‌गारों को प्रकट किया। उन दिनों भगतसिंह तथा उनके साथियों पर अदालत में मुकद्दमें चलाये जा रहे थे। जब सरदार भगतसिंह ने श्यामजी के दिवंगत होने का समाचार सुना तो उन्होंने अदालत में परलोकगत महापुरुष के लिए शोक-संवेदना प्रकट की। शायद श्यामजी के लिए भावी शहीद की यह श्रद्धांजलि ही सर्वाधिक उपयुक्त थी।

श्यामजी के कोई सन्तान नहीं थी। भानुमति वर्मा ने अपने पति की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए जेनेवा विश्वविद्यालय को १०,००० स्विस फ्रैंक दान रूप में दिये। इस धन से इस विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किसी ऐसे शोध प्रबन्ध के प्रकाशन की व्यवस्था की जाती थी जो किसी महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय विषय पर लिखा गया हो। इतनी ही धनराशि उन्होंने जेनेवा के अस्पताल को भी दान रूप में प्रदान की। परन्तु धन से भी बढ़कर था श्यामजी का मूल्यवान संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह। इसे पैरिस के सोरबोन विश्वविद्यालय के 'भारतीय सभ्यता संस्थान' को अर्पित कर दिया गया। इन पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए ओक की लकड़ी की सुन्दर आलमारियाँ श्रीमती वर्मा ने बनवाकर विश्वविद्यालय को

दीं। इस पुस्तक संग्रह की आलमारियों पर फ्रेंच भाषा में निम्न इबारत अंकित है-

BIBLIOTHEQE KRISHNA VARMA
Don be
MADAME BHANOUMATI KRISHNA VARMA

इसी स्थान पर श्री तथा श्रीमती वर्मा की आदमकद की तसवीरें भी लगी हुई हैं। सोरबोन विश्वविद्यालय को प्रदत्त इस पुस्तक संग्रह में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध ३१० ग्रन्थ इतने दुर्लभ तथा महत्त्वपूर्ण हैं कि उनकी अतिरिक्त प्रतियाँ प्राप्त करना सर्वथा दुष्कर है। इन ग्रन्थों में वेद, वेदांग, दर्शन आदि शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त कालिदास, माघ, बाण, दण्डिन् आदि संस्कृत के कवियों एवं लेखकों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ तथा साहित्य एवं अलंकार शास्त्र के ग्रन्थ भी हैं। श्रीमती वर्मा ने अपने पति से प्राप्त धन और सम्पत्ति का एक ट्रस्ट बनाया, जिसमें यह प्रावधान था कि एक समुचित राशि को छात्रवृत्तियों के रूप में व्यय किया जाय। ये छात्रवृत्तियाँ उन छात्रों को दी जाती थीं जो भारत से सोरबोन विश्वविद्यालय में अध्ययनार्थ आते थे।

श्यामजी कृष्ण वर्मा की साध्वी पत्नी भानुमति एक धनी परिवार में पैदा हुई थी, किन्तु उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन और वैयक्तिक सुख-सुविधाओं को अपने पति के आदर्शों के लिए अर्पित कर दिया था। उन्होंने अपने-आपको श्यामजी के विचारों, आदर्शों तथा भावनाओं के साथा एकाकार कर दिया था। तभी तो वे अपने पति के साथ-ही-साथ भारत से चलकर लंदन, पैरिस और अन्त में जेनेवा आई और प्रत्येक प्रकार से उन्होंने श्यामजी को अपना ध्येय पूरा करने में सहयोग दिया।

परिशिष्ट-१

संस्कृत: एक जीवित भाषा

(पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा पञ्चम अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या सम्मेलन के बर्लिन-अधिवेशन में पठित निबन्ध का सारांश)

प्राय: यह समझा जाता है कि संस्कृत एक मृत भाषा है। यूरोप तथा अन्य अनेक देशों के प्राच्यविद्याविद् संस्कृत को मृत ही मानते हैं। यहाँ तक ही नहीं, कुछ लोग तो इससे आगे जाकर यह कह देते हैं कि यह भाषा सामान्यतया आम आदमी द्वारा कभी प्रयोग में नहीं लाई गई। यहाँ मैं प्रारम्भ में ही कह दूँ कि एक भारतवासी के लिए ऐसा कथन अत्यन्त आश्चर्योत्पादक तथा खेदजनक होगा जिसमें यह कहा जाय कि उसकी पवित्र भाषा कभी एक जीवित-जागृत भाषा नहीं थी; आज तो यह जीवित ही नहीं है, किन्तु विगत में भी कभी नहीं रही।

मैं इस निबन्ध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा कि वह संस्कृत भाषा, जिसे महर्षि पाणिनि ने अपने 'अष्टाध्यायी' नामक ग्रन्थ में सुनिश्चित रूप प्रदान किया है, उनके युग में भी प्रयोग आनेवाली भाषा थी। द्वितीयत:, मैं यह भी बताऊँगा कि भारत के सभी भागों में, कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, विद्वान् पारस्परिक वार्तालाप तथा पत्र व्यवहार में आज भी इस भाषा का बहुतायत से प्रयोग करते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी बोली जानेवाली भाषा नहीं रही, उन्हें यह बताना पड़ेगा कि जिस भाषा में प्रचुर मात्रा में साहित्य है, उस संस्कृत को संसार की उन प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं के उस वर्ग में क्यों न रखा जाये जो भिन्न-भिन्न युगों में बोली जाती रही हैं! जब तक उपर्युक्त कथन के विपरीत कोई प्रमाण नहीं मिलता, हमें संस्कृत को भी अन्य प्रायोगिक भाषाओं में ही स्थान देना होगा। लैटिन तथा ग्रीक आज मृत भाषाएँ हैं, किन्तु कोई भी व्यक्ति इस बात में शंका नहीं करता कि वे किसी समय बोली जानेवाली भाषाएँ थीं। इसी तर्क का अनुसरण करते हुए यह समझना कठिन हो जाता है कि संस्कृत को संदेह का लाभ क्यों नहीं दिया जाता और उसे किसी समय सर्वसाधारण के

प्रयोग में आनेवाली भाषा क्यों नहीं माना जाता?

कुछ लोग कहेंगे कि भारत की पुरानी प्राकृत भाषाओं का परिष्कृत रूप ही संस्कृत है, परन्तु अनेक विद्वानों की धारणा है कि संस्कृत तथा प्राकृत समकालीन हैं तथा उनका परस्पर भगिनीवत् सम्बन्ध है। जैसाकि हम जानते हैं, प्राचीन नाटकों में नायक संस्कृत बोलते हैं, जबकि निम्न श्रेणी के लोग किसी प्रकार की प्राकृत का प्रयोग करते हैं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि संस्कृत का आविष्कार ब्राह्मणों ने इसलिए किया था कि इस भाषा में निहित सारा ज्ञान उन्हीं के पास रहे। वें यह भी कहते हैं कि भारत का पुरोहितवर्ग सामान्य जनता को प्रवंचित करने के लिए ही संस्कृत का प्रयोग धर्म कार्यों में करता था। अपने कथन की पुष्टि में वे यह भी कहते हैं कि पुरोहितवर्ग का मुख्य ध्येय जनसामान्य को अज्ञान में रखना था, और इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने साधारण जनता को संस्कृत पढ़ने से निरुत्साहित किया। यहाँ तक कि किसी विदेशी भाषा पढ़ने पर उन्होंने पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिये, जैसाकि संस्कृत के इस प्रसिद्ध श्लोक से ज्ञात होता है-

न वद्येद्यावनीं भाषां प्राणाकण्ठगतैरपि।
हस्तिना ताड्यमानेऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।।

अर्थात्- प्राणों पर विपत्ति आने पर भी हमें यावनी भाषा नहीं बोलनी चाहिए तथा हाथी के द्वारा पीड़ित होने पर भी जैन मन्दिर में जाकर आश्रय लेना अनुचित है।

कतिपय अन्य लोगों का कथन है कि संस्कृत में व्याकरण विषयक जो जटिलताएँ हैं, इसके व्याकरण में जैसे अपवाद आदि, इसमें समास आदि के जैसे जटिल नियम हैं, तथा सन्धि जैसे अत्यन्त व्यवस्थित किन्तु कृत्रिम नियम हैं, जो कि इसके विकास की गति को अवरुद्ध किये हुए हैं, इस सबको देखते हुए यही जान पड़ता है कि सामान्य लोगें द्वारा शायद ही इसका कभी प्रयोग होता रहा हो।

जो लोग यह मानते हैं कि संस्कृत भाषा प्राकृतों की एक विकसित अवस्था है तथा प्राकृत एवं संस्कृत एकदूसरे के निकट होने के कारण भगिनीवत् समकालीन हैं, मेरे विचार से वे गलती कर रहे हैं। ऐसे लोगों ने प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति को ही ठीक प्रकार से नही समझा। 'प्राकृतप्रकाश' के लेखक वररुचि तथा प्रसिद्ध वैयाकारण एवं कोशनिर्माता हेमचन्द्र ने बताया है कि 'प्राकृत' शब्द 'प्रकृति' से बना है तथा यह तद्धित है जिसमें अण् प्रत्यय लगा है। अब यह भी

जानना चाहिए कि 'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'मूल' या 'आदिस्रोत' होता है तथा वररुचि के अनुसार संस्कृत ही वह प्रकृति (मूल) है जिससे अन्य सारी प्राकृत भाषाएँ निकली हैं। उसने अपने ग्रन्थ 'प्राकृतप्रकाश' में पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि प्राकृत भाषाएँ अपनी 'प्रकृति' पर ही निर्भर होती हैं और उनकी यह प्रकृति निश्चय ही संस्कृत है। मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि अष्टध्यायी में एक भी ऐसा सूत्र नहीं हैं जिससे यह सिद्ध होता हो कि पाणिनि को अनेक प्राकृतों में एक का ही परिचय था। परन्तु यह बात पतञ्जलि के बारे में नहीं कही जा सकती जो कि पाणिनि के कई शताब्दियों बाद हुए हैं। महाभाष्यकार स्वयं बतलाते हैं कि संस्कृत शब्दों के अनेक अपभ्रंश रूप भी होते हैं। उदाहरण के रूप में वे कहते हैं कि एक 'गौ' शब्द के ही गवि, गोनी, गोता आदि अपभ्रंश चल पड़े हैं। पतंजलि तत्परतापूर्वक संस्कृत व्याकरण का अध्ययन करने के लिए कहते हैं। इसी प्रसंग में वे यह भी बतलाते हैं कि व्याकरण का अध्ययन मनुष्य के लिए क्यों आवश्यक माना गया है? उनका कथन है कि हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए, अन्यथा हम म्लेच्छ बन जायेंगे क्योंकि जो व्यक्ति संस्कृत शब्दों का सही उच्चारण नहीं कर सकता उसी की 'म्लेच्छ' संज्ञा होती है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में जिन 'अपशब्द' तथा 'अपभ्रंश' आदि शब्दों का प्रयोग किया है, वे अष्टध्यायी में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। जो लोग यह मानते हैं कि पाणिनि भी संस्कृत का अपनी मातृभाषा के रूप में प्रयोग नहीं करते थे, उनके समक्ष एक अन्य कठिनाई उपस्थित होगी। जैसाकि हम देख चुके हैं, पाणिनि को किसी प्राकृत भाषा की जानकारी नहीं थी (अर्थात् पाणिनि युग में किसी प्राकृत भाषा के होने का पता नहीं चलता); तब यह प्रश्न होता है कि पाणिनि स्वयं कौन सी भाषा प्रयोग करते थे? इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर मिलता है कि वे संस्कृत बोलते थे। उन्होंने वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृत भाषाओं के नियम दिये हैं। परन्तु अष्टाध्यायी में अधिकांश में प्रचलित (बोलचाल की संस्कृत) भाषा के नियम दिये गये हैं जिन्हें वे भाषा कहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि पाणिनि जिस भाषा का व्याकरण लिख रहे हैं, उसके लिए वे 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग नहीं करते। वे इतने विनम्र हैं कि अपनी मातृभाषा के लिए संस्कृत शब्द का प्रयोग नहीं करते जिसका अभिप्राय 'पूर्ण' तथा 'परिष्कृत' से लिया जाता है।

'भाषा' शब्द 'भाष्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है बोलना। हमारी चर्चा के प्रसंग में इस शब्द पर विचार करना आवश्यक है। पाणिनि ने 'भाषा' शब्द का प्रयोग (अ० ३, पाद २, सूत्र १०९) 'छन्दस' नाम की उस

प्राचीन भाषा के विलोम अर्थ में किया है जिसका प्रयोग उनके समय में बन्द हो गया था। 'भाषा' शब्द तो प्रयुक्त ही उस भाषा के लिए होता है जो बोली जाती है, प्रयोग में आती है। इसके लिए प्रमाण ढूँढ़ना भी कठिन नहीं है। वर्तमान काल में भारत में जो हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएँ प्रचलित हैं, बोली जाती हैं, उन्हें भी 'भाषा' शब्द से ही अभिहित किया जाता है। 'छन्दस' के विपरीत भाषा बोलने के लिए पाणिनि ने जो सामान्य तथा विशेष नियम बनाये हैं, उनका कोई अर्थ ही नहीं था यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न होती। यही बात उन तद्धित प्रत्ययों के विषय में कही जा सकती है जो उनके ग्रन्थ में बहुतायत से मिलते हैं। किसी कृत्रिम भाषा के व्याकरण में उनके विवेचन का कोई प्रसंग ही नहीं होता।

यह कथन सर्वथा प्रमाण रहित है कि संस्कृत उन ब्राह्मणों का आविष्कार है जिन्होंने इस भाषा पर अपना एकाधिकार कर रखा था। यह आश्चर्य की बात है कि मेरे कुछ देशवासी संस्कृत के बारे में ऐसी ही विचित्र धारणा रखते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में मैं दृढ़ता से कह सकता हूँ कि ऐसा कहनेवाले अपनी पवित्र भाषा के बारे में कुछ भी नहीं जानते, उनकी शिक्षा पूर्णतया पाश्चात्य पद्धति पर हुई है। हमें भारत के वर्तमानकालीन समाज को ध्यान में रखकर उसके अतीत पर विचार नहीं करना चाहिए। आज तो भारतीय समाज में जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, बाल विवाह आदि जो अन्धविश्वासपूर्ण रीति- रिवाज चल पड़े हैं, वे ही आधुनिक भारतीय समाज की रूपरेखा बनाते हैं। आज के लोगों की आदतें, स्वभाव तथा चिन्तन में प्राचीन काल की अपेक्षा इतना अधिक अन्तर आ गया है कि वर्तमानकालीन भारत को देखकर अतीतकाल के आर्यावर्त्त के बारे में कुछ भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। आज बहुत कम ब्राह्मण ऐसे मिलेंगे जो वेद के एक मन्त्र का भी उच्चारण कर सकते हों, अथवा किसी निम्न जाति के व्यक्ति को संस्कृत सिखाते हों, परन्तु मेरा पक्का विश्वास है कि इस प्रकार की कट्टरता हमारे शास्त्रों द्वारा अनुमोदित नहीं है। इसके विपरीत वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों तथा सूत्रों से इस बात के भूरिशः प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन काल में जाति अथवा वर्ग का अन्तर किये बिना संस्कृत सभी लोगों की समान सम्पत्ति थी। भारतवासी संस्कृतभाषी आर्यों के धार्मिक तथा सामाजिक विधान उन सभी लोगों के लिए समान रूप से उपलब्ध थे जो ज्ञानोपार्जन करना चाहते थे। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहाँ निम्न जाति के लोग अपने गुणों के बल पर सर्वोच्च पदों पर पहुँचते थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में हमें यह लिखा मिलता है कि शूद्रा माँ का पुत्र कवष ऐलूष अपनी योग्यता एवं विद्वत्ता के कारण सम्मानित हुआ तथा ऋषियों

की कोटि में परिगणित हुआ। उसके जीवन का सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रसंग यही है कि शूद्र होने पर भी ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों का वह द्रष्टा बना (ऋग्वेद १०-३०-३१)। 'छान्दोग्योपनिषद्' में यह स्पष्ट लिखा है कि सत्यकाम जबाल का कोई गोत्र नहीं था। उसके माता-पिता आदि के बारे में हमारी जानकारी इतनी ही है कि वह 'जबाला' नामक स्त्री का पुत्र था तथा वह अपनी माता के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार अज्ञात व्यक्तियों की सन्तान होने पर भी जाबाल 'यजुर्वेद' की एक शाखा का प्रवर्तक माना गया है। 'आपस्तम्ब सूत्र' (२-५-१०) तथा 'मनुस्मृति' (१०-६५) में यहाँ तक लिखा है कि एक शूद्र अपने शुभ कर्मों से ब्राह्मण अथवा ब्राह्मण अशुभ कर्मों से शूद्र बन जाता है। 'शुक्ल यजुर्वेद' के २६वें अध्याय में एक प्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें यह कहा गया है कि वेद की पवित्र एवं कल्याणी वाणी का प्रचार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, यहाँ तक कि निम्न जातियों में से निम्नतम तक को भी करना चाहिए। हमारे शास्त्रों के इन स्पष्ट प्रमाणों के रहते यह नहीं कहा जा सकता कि मात्र ब्राह्मणों के लिए ही वेद बनाये गये हैं।

पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' (अ० ६, पाद १, सूत्र १३०) में एक प्रसिद्ध वैयाकरण चक्र वर्मन का उल्लेख किया है। अब यह सिद्ध बात है कि चक्र वर्मन क्षत्रिय था, क्योंकि उसके नाम के पीछे 'वर्मा' शब्द का प्रयोग मिलता है। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों का ही संस्कृत पर एकाधिकार था, यह कथन तथ्यपूर्ण नहीं है। समस्त आर्यावर्त्त में सभी वर्गों द्वारा इस भाषा का बिना किसी भेदभाव के, निर्बाध प्रयोग किया जाता था।

प्राय: लोग यह कहते हैं कि संस्कृत का व्याकरण इतना जटिल है कि उसके कभी बोली जानेवाली भाषा होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। परन्तु मेरे विचार से ऐसे लोगों का कथन बहुत युक्तिपूर्ण नहीं है। संस्कृत भाषा में जो बहुत से अपवाद तथा अनियमित रूप आदि मिलते हैं, वही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि यह किसी समय आम आदमियों द्वारा बोली जाती थी। प्राय: यह कहा जाता है कि कुछ अंशों में शब्द सिक्कों की तरह होते हैं तथा जो सिक्के हजारों हाथों में से निकलते हैं उनकी आकृति भी विकृत हो जाती है, उसी प्रकार सबसे अधिक प्रयोग में आनेवाले शब्दों का रूप भी विकृत हो जाता है और उनमें अनेक प्रकार की विशिष्टताएँ (विद्रूपताएँ) आ जाती हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि प्राय: सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं में अनगढ़ रूपोंवाले शब्द मिलते हैं। ये वही शब्द होते हैं जिनका प्रयोग अधिकाधिक होता है। संस्कृत भी इसी नियम के अन्तर्गत आ जाती है। जहाँ तक सन्धि नियमों का

सम्बन्ध है, अन्य देशवासियों को ये कृत्रिम लगते होंगे, किन्तु भारतवासी इन नियमों से इतने अधिक परिचित हैं कि इस तर्क के आधार पर संस्कृत को बोली जानेवाली भाषा के रूप में स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं आती। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में अनेक वैयाकरणों के नाम दिये हैं, तथा भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित उच्चारणों की विभिन्नता का भी संकेत किया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस समय 'अष्टाध्यायी' की रचना हुई थी, उस समय संस्कृत सामान्य बोलचाल की भाषा थी।

अब मैं संक्षेप में यह बताना चाहता हूँ कि हम भारतवासी संस्कृत के बारे में इस समय क्या विचार रखते हैं। संस्कृत के व्याकरण में बताई जानेवाली तथाकथित कठिनाइयों के होने पर भी मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि भारत का शिक्षितवर्ग आज भी संस्कृत को परस्पर विचार-विनिमय के साधन के रूप में प्रयोग करता है। साथ ही मैं यह भी कह सकता हूँ कि संस्कृत एक जीवित भाषा है। वस्तुत: संस्कृत भारत के पठितवर्ग की एक प्रकार से राष्ट्रभाषा है। इसमें किसी को कोई संदेह नहीं है कि यदि संस्कृत का प्रयोग राष्ट्रभाषा के रूप में होता है तो उसमें कोई असुविधा नहीं होगी। मेरे इस कथन का समर्थन वे भारतविद्याविद् करेंगे जो वर्षों तक भारत में रहे हैं। मैं जानता हूँ कि जिस समय प्रो० मोनियर विलियम्स भारत में थे वे प्राय: प्रतिदिन पण्डितों से भेंट किया करते और उनका यह वार्तालाप संस्कृत में हुआ करता था। डॉ० बूलर जब बम्बई और पुणे में प्रोफेसर के पद पर रहे तो वे अपने कॉलेज के पण्डितों से प्राय: हर रोज संस्कृत में बोलते थे। इसी प्रकार डॉ० कीलहॉर्न तथा अन्य प्राच्यविद्याविद् विद्वान् जो आज भारत में हैं, वे पण्डितों से वार्तालाप करते समय संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं। प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों के पारस्परिक विचार-विनिमय में भी संस्कृत को माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। मैं अपने इस कथन के समर्थन में प्रो० मैक्समूलर के कथन को उद्धृत करना चाहता हूँ। उन्होंने अपने हिबर्ट व्याख्यानों में कहा था- "जो ब्राह्मण अपनी पवित्र परम्पराओं के पालन में दृढ़ हैं, वे अंग्रेजी अथवा बंगाली भी प्रयोग नहीं करते, वे संस्कृत ही बोलते हैं और इसी भाषा में लिखते हैं। मुझे प्राय: उनके पत्र मिलते रहते हैं जो सर्वथा निर्दोष संस्कृत में होते हैं।"

राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर तथा रामदास सेन ने इस परिषद् के सम्मुख अपने जो संस्कृत-गीत पठनार्थ भेजे हैं, वे मेरे इस कथन की पुष्टि करते हैं। बहुत कम यूरोपीय लोगों को इस बात का पता है कि हम भारतवासी किस सीमा तक

संस्कृत का प्रयोग करते हैं। भारत के विभिन्न भागों में मेरे अनेक मित्र हैं और वे संस्कृत के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा में मुझसे पत्र व्यवहार नहीं करते हैं। कुछ मास पूर्व प्रो० विलियम्स ने 'एथेनियम' नामक पत्र में स्वामी दयानन्द द्वारा मुझे भेजे गये एक संस्कृत पत्र का अनुवाद प्रकाशित किया था। स्वामी जी तो किसी समय बच्चों तक से संस्कृत में ही वार्तालाप करते थे। यदि भारत के सभी भागों के पण्डित लोग संस्कृत तथा हिन्दी के माध्यम से अपनी बौद्धिक चर्चाओं को सम्पन्न न करें तो उनका पारस्परिक विचार-विनियम असम्भव हो जायेगा, क्योंकि इस विशाल देश के विभिन्न प्रान्तों में बोली जानेवाली प्रादेशिक भाषाओं की संख्या बहुत अधिक है। मैं यह बात अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। मैंने भारत के पश्चिमी तथा उत्तरी भागों में सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर अनेक व्याख्यान दिये हैं तथा शास्त्रार्थ भी किये हैं, किन्तु संस्कृत में बोलने से मुझे कहीं कोई कठिनाई नहीं हुई और मेरे देशवासियों ने मेरे कथन को भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि पाणिनि के समय संस्कृत बोलचाल की भाषा थी तथा आज भी यह भारत के शिक्षित नागरिकों द्वारा अधिकांश में बोली तथा लिखी जाती है।

श्यामजी कृष्ण वर्मा के विषय में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एम० मोनियर विलियम्स की सम्मति

अथेनियम (पत्र का नाम) के पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा नामक एक युवा भारतीय पण्डित हाल ही में इस देश (इंग्लैण्ड) में आया है। उसकी आयु मुश्किल से तेईस वर्ष की है। यह संस्कृत व्याकरण तथा वैदिक साहित्य में निपुण है। इसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया है। यह भारतीय पण्डितों में पहला है जो इंग्लैण्ड में आया है। उसे अपनी भारतीय राष्ट्रीयता पर गर्व है और वह पुनः भारत लौटकर विधिपूर्वक प्रायश्चित्त कृत्य सम्पन्न करेगा तथा अपने देश की सेवा करेगा। इस पण्डित के बारे में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि यह एक नये ईश्वरवादी संगठन आर्यसमाज का सदस्य है जो एक उल्लेख योग्य पं० दयाननद सरस्वती स्वामी द्वारा स्थापित किया गया है। जब मैं भारत में था तब दो या तीन बार मेरी उनसे भेंट हुई थी।

-इण्डियन थीज्म पृ. ४१५-४१६

परिशिष्ट-२

स्वामी दयानन्द के पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के नाम लिखे गये दो संस्कृत-पत्र

स्वस्ति श्रीमच्छ्रेष्ठोपमार्हाय विद्वद्वर्य्याय वैदिधर्ममार्गैकनिष्ठाय निगमोक्तलक्षणप्रमाणैर्धर्म्यकर्मोपदेशप्रवर्त्तितस्वान्तायैतद्विरुद्धस्योपच्छेदने प्रोत्साहितचित्ताय सविद्वद्वद्भ्योऽभ्यानन्दार्थसूक्तसमूहवाक्यानुवाक्यप्रयुक्त-वक्तृत्वाभ्याशालिने सर्वदा विद्यार्जनदानोत्कृष्टस्वाभावाय लब्धार्यविपश्चिन्मानाया-स्मत्प्रियवराय श्रीयुतश्यामजि(कृष्ण) वर्म्मणे दयानन्दसरस्वतीस्वामिन आशिषो भूयासुस्तमाम्। शमत्रास्म(दीयम)स्ति तत्रत्यं भवदीयं नित्यमेधमानं चाशासे।

बहुमासाभ्यान्तरे भावत्कपत्रानागमेन चित्तानन्दहरासात् पुनरानन्दप्रजननाये-दानीमेतस्मिन्निम्नलिखिताभिप्रायाणां भवतः स{का}शात् सद्यः प्रत्युत्तराभिकांक्षिणो-साहयुक्तं ··· मया पत्रं श्रीमत्सनीडं प्रेष्यते।

तत्र कीदृग्गुणकर्मस्वभावा मानवा भूजलवायुभक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्याः पदार्थाश्च सन्ति। अतो गत्वाऽद्यपर्यन्तं तत्र भवादात्मशरीरारोग्यमस्ति न वा। यदर्था यात्रा कृता तत्प्रयोजनं प्रतिदिनं सिध्यति न वा। भवत्समय्यार्दे तत्रत्याः कति जनाः संस्कृतमधीयते कं कं ग्रन्थं च। तत्र भवतः कियती मासिकी प्राप्तिर्व्ययश्च। कस्मिन् कस्मिन् समये पठ्यते पाठ्यते चिन्त्यते च। ततोऽत्र कदाऽऽगमनाय निश्चितं कृतमस्ति। किमिदं यथात्र सद्धर्मोपदेशजन्या भवत्कीर्तिस्- तूरणं देशदेशान्तरे प्रसृता तत्र कुतो न जाता। जाता चेद्यतो दूरदेशस्थास्ति, तस्मादस्माभिर्न श्रुता किम्। किं वैतत्कारणेऽवकाशो न लब्धः। एवे चेद् यदा भवता पठनपाठने सम्पूर्य्य(?) वेदार्थोत्कर्षाभिप्रायसूचिकानि वक्तृत्वानि तत्रत्येषु देशेषु कृत्वैवात्रागमने भद्रं नान्यथेति निश्चयो मेऽस्ति। कुतः। धनलाभात् सत्कीर्त्तिलाभो महान् शिवकरोस्त्यतः। श्रीयुतप्रियवराध्यापकमुनियर विलियंस{स}- क्षमूलराख्यानामधुना वेदादिशास्त्राणां मध्ये किदृङ् नि{श्चयः}प्रेतमदर्थप्रचारा(य) चिकीर्षाऽस्त्यन्येषां च। तत्र नन्दनपूर्या काचित् वैदिकी शा{खा}ख्या थियोसोफीकल सभाप्रेरिता सभास्तीति श्रुतं तत्तथ्यं न वा। भवता (कदा)चिच्छ्रीमतीराजराजेश्वरी महाराज्ञी पारलीमेंटाख्या सभा च दृष्टा न वा। भवता श्रीमत्प्रियवराध्यापकमुनियर- विलियंसाख्यादिभ्योऽत्यादरेण

मन्नियोगतो नमस्त इति संश्राव्य कुशले पृष्ट्वा ते श्रुत्वा यद्यत् प्रत्युत्तरं ब्रूयुस्तत्तदन्यच्च यद्यद्युस्तं च लिखितुं तत्तस्य सर्वस्यक्त(?) प्रत्युत्तराणि यद्यस्यानुक्तप्रश्नस्यापि लेखार्हमुत्तरं वैतत्सर्वं विस्तरेण संलिख्याविलम्बेन पत्रं मत्सन्नि{धौ}प्रेषणीयमेवेत्यलमधिकलेखेन विचद्वाणोत्कृष्टेषु।

मुनिरामाङ्कभूम्यब्द आषाढस्य शुभे दले ।
षष्ठ्यां ही मंगले वारे पत्रमेतदलेखिषम् ।।

इस पते पर पत्र भेजना । बनारस लक्ष्मीकुण्ड मुंशी बख्तावरसिंहजी मैनेजर वैदिक यन्त्रालय के द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के पास पहुँचे।

इदं वैदिकयन्त्रं स्वाधीनं नवीनस्थापितमस्मा{भि}राय्यैर्वेदादिशास्त्राणां मुद्राऽङ्गरसंसिद्धय इति वेद्यम्।

(दयानन्द सरस्वती)
(मेरठ)

पत्र (२)

ओ३म्

स्वस्ति श्रीश्रौतमार्गप्रकृतपरिचयस्वान्तसिद्धान्तधर्मा
नानातर्कप्रयासैर्विविधगुणभरश्रान्तिविश्रान्तिशर्मा।
देशे देशे प्रवादोत्पथजनमथितोत्कर्षाद्धर्षकर्म्मा
भूयो भूयस्समीयाब्दुधकृतिजनितं सत्फलं कृष्णवर्म्मा॥१॥
पत्रमत्र त्वदीयस्योदन्तस्य च मदन्तिकम्।
आगतं येन नः स्वान्तेऽत्यन्तं सुखमजायत॥२॥
वेदभेदपरिध्वंसतर्कसद्धर्षकृद्वरं।
व्याख्यानमतिसौहित्यमाख्यातुस्तव दैशिकम्॥३॥
समीरितं पत्रमनेकमञ्जसा क्रियावरैर्जर्मनदेशजैर्जनैः।
समीपमस्माकमवाप्तमत्र तत्तदाशयं विद्धि महाशयैर्मुदा॥४॥
विदेशजैर्देशसुखाय[१] शिल्पक्रियानिवेशाय सदाशल्यात्किल।
नरेभ्य एभ्यो[२] लिखितं निरन्तरं करण्डमेतैस्त्वमतस्समाचर॥५॥

ये सभी टिप्पणियाँ स्वामी जी की हैं-

१. (देशसुखाय) भारतवर्षीयजनसुखाय।
२. (एभ्यः) भारतवर्षीनिवासिभ्यः।

गन्तव्यामात्रगमनात्स्वदेशे त्वया च तत्राढ्यपुरे[1] पुरैव!
व्याख्यानमाख्यानमनस्तु देयं श्रुतीरितं श्रौतसुधान्वितं च॥६॥
[2]तदीयभाषाविरहान्न मत्तः प्रयाति पत्रोत्तरमाश्रुतेभ्यः।
वक्तव्यमेतल्लिखितं न धीमंस्त्वया च मौनिलिमस्य वृत्तम्॥७॥
नमस्त इत्येष मदेक्तशब्दस्तस्मै[3] प्रयुक्तोऽथ न वा प्रयुक्तः।
प्रस्थातुकामो मतिमंश्च देहरादूनं पुरं नूनमितोऽहमस्मि॥८॥
गत्वा पारलिमेण्टसज्जनसभां व्याख्यानमख्यावरम्[4]
दत्त्वा भारतवर्षपूर्वनियमप्रेक्षावतस्तान्[5] कुरु।
पश्येर्युत ईदृशं निजदशादृःखं द्रुतं दुःखिनां
म्लेच्छा म्लेच्छतया च भारतजनान् संपीडयन्तीति यत्॥९॥
यजनजनमतं हि स्वीयधर्मानुकूलः
सकलजनगरिष्ठाः श्रेष्ठकर्मैव नान्यः।
इति मनसि निधायोत्कण्ठिताः कण्ठतेल
श्रुतिपथनिरतानां च्छेदमिच्छन्ति नित्यम्॥१०॥

(अत्रांशे प्रकृतविवादो यथा)

मुरादाबादीयश्रुतिपथगमुंशीन्द्रमणिकः
श्रुतः श्रौताचाराद्यवनमतविच्छे{द}नरतः।
तदुक्तौ द्वौ ग्रन्थौ यवनकृसम्मानवशान्
मजस्ट्रैटः सम्प्रत्यनिशमवदार्षीत्[6] तदपरम्॥११॥
मुद्रापञ्चशतं दण्डं कृतवाञ्छीघ्रमेव सः।
तस्य प्रत्यर्जनं[7] तत्र यातं जजगृहे यदा॥१२॥

---

१. (तत्राढ्यपुरे) धनसमृद्धे युरोपाख्ये।
२. (तदीयभाषाविरहात्) तेषां युरोपदेशवासिनां भाषाविरहात्।
३. मौनिर्विलिमाख्याय।
४. (आख्यावरम्) सौजनाभियुक्तश्रौतसिद्धान्तानुकूलम्।
५. (भारतवर्षपूर्वनियमप्रेक्षावतः) भारतवर्षस्य पूर्वेषां जनानां सौजन्यसौहार्द्धांजिल त्व-सर्वशास्त्रसिद्धान्तनुकूलेषु नियमेषु विचारत् (तान्) युरोपदेश वासिनो महाशयान् पारलिमेण्टसभासदः। (दुःखिनां) भारतवर्षनिवासिनां दुःखाकुलचेतसाम्।
६. (अवदार्षीत्) भिन्नवान्।
७. (प्रत्यर्जनम्) प्रतिविवादपत्रमपीलाख्यमिति यावत्।

त्यक्त्वा शतानि चत्वारि[१] जजेनापि स्वयत्नतः।
मजस्ट्रैटकृतो न्यायः स्वीकृतोऽनेकधा तदा॥१३॥
सदालसा राज्यनिबन्धकर्म्मसु प्रभावतः स्वार्थरता विशेषतः।
भवन्ति केचिच्च परार्थतत्परा जना नियुक्ता इह राज्यकर्मसु॥१४॥
भवन्ति ये म्लेच्छजनाश्च तेषु तत्कथाप्लं दुःखतमाय दृश्यते।
न यावदेतेषु मनूक्तं[२] दण्डकृननयोऽस्ति तावन्न सुनीतितत्पराः॥१५॥
भवन्ति ते प्रत्युत धर्मकर्मणि प्रकाशयन्ति स्वमतिभ्रमं यतः।
अहो महोपद्रवकर्मकारिणः समत्सराः स्वल्पधियोऽतिलोभिनः॥१६॥
सर्वमेतत्समाख्याहि पारलिमेण्टसंसदि।
आख्यातुस्तव दृष्टान्ते सिद्धान्ते न यथा भवेत्॥१७॥
सुसायटि सोफिकलप्रधानः ख्यातश्च यो डाक्टरमासिनाम्ना।
न तस्य पत्रोत्तरमाशु मत्तस्तदीयभाषाविरहाद्धि याति॥१८॥
नच तावद्धनं व्येतुमवकाशो ममाधुना।
रक्षेयं यावता किञ्चिद्[३]द्विभाषिणमिहान्तिके॥१९॥
करनेल ओलकाटाख्यां प्रयुक्तं च मयाधुना।
पत्रमिच्छुस्तदा रक्ष मत्समीपे तथाविधम्[४]॥२०॥
यदि त्वं स[५] मिलेत्तत्र सुसायटिपतिस्तदा।
कथ्यतां सर्वमेवैतद्धृतं मत्पत्रकाक्षिणे॥२१॥

त्वदभिलषितानि पुस्तकानि मया तदानीमेव प्रेषितुमाज्ञप्तानि काशीनगरादागमिष्यन्त्यागतानि न वेत्यलं विस्तरेण। अत्रैका परोपकारिणीसभा स्थापिता, यत्र भवानपि सभासदस्ति। तस्या व्यवस्था नियमान्वितं राजमुद्राङ्कितं भवत्सनीडे प्रेषयामीदं स्वात्मवत्सदा रक्ष्यमुत्तरस्मिन् समयेऽत्यन्तं कार्यकारि वर्तते। तत्रत्योदन्तः पत्रद्वारा मह्यं निवेदनीय इति।

---

१. त्यक्त्वा शतानि चत्वारि इत्यत्र अयं निधर्नो नापरोधे न्यूनत्वमस्येति कथयित्वेति शेषः।

२. (मनूक्तः) कार्षापणं भवेद्यत्र दण्ड्योऽन्यप्राकृतो जनः। तत्र राजा-भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ इत्यवादित्। अत्र राजशब्देन सामान्यतो राज्यकर्मणि नियुक्ता ग्राह्याः॥

३. (द्विभाषिणम्) देवभाषागौरण्डभाषाविदम्।

४. (तथाविधम्) उक्तद्विभाषाविदम्।

५. (सः) सुसायटिप्रधानो डाक्टर मासीति नाम।

नगगुणनचद्रे विक्रमादित्यवर्षे
रसतिथिशनिवारे चाश्विने कृष्णपक्षे।[१]
बुधजनसुखदात्रे कृष्णवर्माभिधाय
प्रथितविबुधवाण्या प्रेषितं पत्रमेतत्॥२

दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयान्नद के पूर्वांकित पत्रों का हिन्दी अनुवाद

ओ३म्

स्वस्ति, श्रीमन्, इस श्रेष्ठ उपमा के योग्य, विद्वद्वर्य, वैदिक धर्म के पवित्र मार्ग पर अत्यन्त निष्ठावान्, वेदोक्त लक्षण प्रमाणों से धर्मयुक्त कर्मों के उपदेश में सदैव संलग्न, स्वभाव से ही वेदविरुद्ध मतों के खण्डन में सर्वदा उत्साही, श्रेष्ठ विद्वानों के आनन्द के लिए नाना वैदिक सूक्त एवं ऊहापोह से समन्वित वक्तृत्व कला में निपुण, सदैव विद्या-अर्जन एवं प्रदान करने में तत्पर, आर्य विद्वानों में प्रतिष्ठागत, प्रियवर श्रीयुत श्यामजीकृष्ण वर्मा के लिए स्वामी दयाननद सरस्वती का आशीर्वाद सदैव होवे। हम यहाँ शान्ति से हैं, आपके लिए सदैव सर्वविध वृद्धि की कामना करते हैं।

बहुत मासों से आपके पत्र के न आने के कारण चित्त में आनन्द का ह्रास हो रहा है, इसलिए पुन: आनन्द प्राप्त करने के लिए अब निम्नलिखित अभिप्रायों के विषय में उत्तराभिलाषी मैं आप श्रीमान् के पास, उत्साहयुक्त यह पत्र भेज रहा हूँ।

वहाँ पर किस प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव के मनुष्य और भूमि, जलवायु, भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चूष्य पदार्थ हैं? यहाँ से जाने के पश्चात् आप वहाँ स्वस्थ हैं वा नहीं? जिस उद्देश्य से आप वहाँ गये थे वह पूर्ण हो रहा है वा नहीं? आपके पास वहाँ कितने व्यक्ति पढ़ते हैं और किन-किन ग्रन्थों को आप

---

१. २५ सितम्बर १९८०। उस दिन तिथि ७ हो गई थी। संवत् १९३७ आश्विन कृष्ण ६ शनिवार।

२. मूल पत्र प्रो० धीरेन्द्रवर्मा जी के पास सुरक्षित है।

पढ़ाते हैं? आपका वहाँ कितना आय-व्यय है? किस-किस समय आप पढते-पढाते तथा चिन्तन करते हैं? वहाँ से लौटकर आने का कब निश्चय किया है? जैसे यहाँ सद्धर्म के उपदेश करने के कारण आपकी कीर्ति अतिशीघ्र देश-देशान्तरों में फैल गई थी, वैसे वहाँ क्यों नहीं फैली? यदि हुई, तो क्या दूर देश होने के कारण हमने नहीं सुनी या कीर्त्ति के फैलने का उचित अवसर नहीं मिला? यदि ऐसा है तो पठन-पाठन को पूरा करके, वेदार्थ के उच्च अभिप्रायों को प्रकाशित करनेवाली अपनी वक्तृता को देकर ही आपको वहाँ से लौटना चाहिए, यही मेरा परामर्श है। क्योंकि धन-लाभ से उत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति उच्च एवं कल्याणकारी है। प्रियवर श्रीयुत अध्यापक मुनियर विलियम्स तथा मोक्षमूलर नामक विद्वानों का वेदादि शास्त्रों के विषय में कैसा निश्चय है? वहाँ नन्दपुरी (लन्दन) में कोई वैदिकी शाखा नाम की थियोसोफिकल सभा से प्रेरित सभा है, ऐसा हमने सुना है। यह सत्य है वा नहीं? क्या आपने कभी श्रीमती राजेश्वरी महारानी को तथा पारलीमेंट नामक सभा को देखा है वा नहीं? आप श्रीमन् प्रियवर अध्यापक मुनियर विलियम्स आदि को मेरे द्वारा प्रेषित नमस्ते को सुनाकर, कुशल पूछकर और उसे सुनकर वे जो-जो प्रत्युत्तर कहें तथा और भी जो-जो लिखने के योग्य हो, उस सबके विस्तारपूर्वक उत्तर लिखकर मेरे पास भेजना। विद्वानों में उत्कृष्ट आपके लिए अधिक लिखना व्यर्थ है।

१९३३ विक्रमाब्द के आषाढ़ मास
के शुक्लपक्ष की षष्ठी, मंगलवार
को यह पत्र लिखा ।

हम आर्यों ने यह वैदिक यन्त्र (यंत्रालय) अपने अधीन नवीन वेदादि शास्त्रों के मुद्रित करने के लिए स्थापित किया है ।

ह० दयानन्द सरस्वती

ओ३म्

आपका कल्याण हो!

१. सुन्दर वैदिक मार्ग से परिचित, अपने सिद्धान्तों के अनुकूल धर्मारूढ़, नाना तर्क-प्रयासों से बहुविध गुणों से परिपूर्ण, सर्वविध सुख-शांति से युक्त, सर्वत्र नाना मतमतान्तर के कारण कुमार्गी जनों का मथन करके उन्नति एवं सुखकारी कर्मों के अनुष्ठाता कृष्ण वर्मा बार-बार विद्वानों के शुभ कर्मों के उत्तम फल को प्राप्त करें।

२. यहाँ हमारे पास तुम्हारे समाचारों का पत्र पहुँच गया जिससे हमारे मन में अत्यन्त सुख हुआ।

३. वेद के खण्डन करनेवालों के विध्वंसक तर्कों से युक्त उत्तम हर्ष को बढ़ानेवाला अतीव सुखकारी तुम व्याख्याता का लिखा व्याख्यान है।

४. श्रेष्ठ क्रियाओं के अनुष्ठाता जर्मन देश के महाशय लोगों द्वारा सहसा प्रसन्नतापूर्वक अनेक पत्र भेजे हुए हमें प्राप्त हुए। यहाँ उनके आशय तुम समझो।

५. उन विदेशी लोगों ने उत्तम अभिप्राय से भारतीयों को शिल्पक्रिया का ज्ञान कराने के लिए तथा सुखी करने के लिए अनेक पत्र लिखे, तुम यह जानो।

६. तुम्हें वहाँ से स्वदेश आने के पूर्व वहीं धनधान्य से पूर्ण यूरोपीय देशों में वेदज्ञान से युक्त व्याख्यान देने चाहिए।

७. उन विदेशियों की भाषा के ज्ञान के अभाव के कारण मैं उन पठित जनों को पत्र नहीं लिख सकता। हे मतिमन्! तुमने मोनियर विलियम्स का वृत्तान्त नहीं लिखा।

८. तुमने मेरा नमस्ते उनके लिए कहा वा नहीं? मैं अब यहाँ से देहरादून के लिये प्रस्थान करना चाहता हूँ।

९. तुम वहाँ पारलियामेंट नामक सज्जनों की सभा में जाकर और वेदादिशास्त्रानुकूल व्याख्यान देकर उन पारलियामेंट के सदस्यों को प्राचीन भारतीयों के सौजन्यादि गुणों के नियम से परिचित करें। जिससे कि वे शीघ्र ही दुःखित भारतीयों के दुःख-दारिद्र्य को देखें कि किस प्रकार म्लेच्छ लोग म्लेच्छपने से भारतीय लोगों को पीड़ित कर रहे हैं।

१०. अपने धर्म के अनुकूल सबसे महान् श्रेष्ठ कर्मों का प्रबोधक यवन जनों का मत है दूसरा नहीं, इस प्रकार मन में सोचकर उत्कंठित उतावले होकर (यवनलोग) वैदिक लोगों का नाश करना चाहते हैं।

(यहाँ पर इस प्रकार का विवाद है)

११. मुरादाबाद के निवासी इन्द्रमणि जी जो वेदपथ पर चलनेवाले हैं। यह विद्वान् वेदाचार के अनुसार यवनों के मत के खण्डन में सदैव संलग्न रहते हैं। उनके द्वारा लिखे गये दो ग्रन्थों को, यवनों के द्वारा अपत्ति किये जाने के कारण न्यायाधीश ने अब तुरन्त उनमें से एक को फ़ाड़ दिया।

१२-१३. उसने (न्यायाधीश ने) शीघ्र ही पाँच सौ रुपये का दण्ड कर दिया। जब उच्च न्यायालय में उसके लिये अपील की गई तो जज ने भी चार सौ को छोड़कर उसी न्याय को स्वीकार कर लिया।

१४. यहाँ कुछ लोग राजसम्बन्धी कर्मों में विशेषकर आलसी और स्वार्थरत रहते हैं, परन्तु कुछ राजकार्यों में नियुक्त किये गये जन दूसरों के हितसाधन में संलग्न रहते हैं।

१५. जो दुष्ट लोग हैं उनके विषय में कुछ कहना भी बहुत दु:खदायक है। जब तक इन पर मनु द्वारा प्रोक्त दण्डनीति का प्रयोग नहीं किया जायेगा, तब तक ये श्रेष्ठ नीति पर नहीं चल सकते।

१६. क्योंकि, धर्म-कार्य में ये अपने मतिभ्रम का ही प्रकाशन करते हैं। अहो! ये महोपद्रव करनेवाले, ईर्ष्या-द्वेष से पूर्ण, तुच्छबुद्धि और अतिलोभी हैं।

१७. यह सब तुम पारलियामेंट में कहो जिससे तुम्हारे दृष्टान्तों और सिद्धान्तों में यह अन्याय न होवे।

१८. 'थियोसोफिकल सोसायटी' के प्रधान जो डाक्टर मासि के नाम से प्रसिद्ध हैं, भाषा ज्ञान के अभाव के कारण मैं जल्दी उनके पास नहीं लिख पाता।

१९. अभी मैं इतना धन भी व्यय नहीं कर सकता कि दुभाषिये को रख लूँ।

२०. कर्नल ऑल्काट को मैंने कहा कि यदि तुम पत्र चाहते हो तो इस प्रकार का दुभाषिया मेरे पास रख दो।

२१. यदि वहाँ सोसायटी के अध्यक्ष तुम्हें मिलें तो यह सब वृत्तान्त उन्हें (पत्र इच्छुक को) कह देना।

तुम्हारे द्वारा अभीष्ट पुस्तकें मैंने भेजने के लिए तभी आज्ञा दे दी थी, काशी नगर से आयेंगी वा गई होंगी। अधिक विस्तार से बस। यहाँ एक 'परोपकारिणी सभा' स्थापित की है जिसमें आप भी सभासद् हैं। उसके व्यवस्था आदि के

नियमों से युक्त राजमुद्रित प्रति तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। इसको सदैव ध्यान में रखना, यह भविष्य में अत्यन्त उपयोगी होगी। वहाँ के समाचार पत्र द्वारा मुझे लिखना।

विक्रमाब्द १९३७ आश्विन कृष्णपक्ष ६ शनिवार को देववाणी संस्कृत में यह पत्र विद्वानों को सुख देनेवाले कृष्ण वर्मा को भेजा गया।

ह० दयानन्द सरस्वती

(अनुवादक- वेदपाल, शोध-छात्र
दयानन्दपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़)

परिशिष्ट-३

पं० रामनारायण मिश्र के संस्मरण
स्व० पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा

अगस्त १९२९ में मैं स्विट्जरलैण्ड की राजधानी जिनिवा में था। उन दिनों वहाँ 'सार्वदेशिक शिक्षा सम्मेलन' हो रहा था। एक दिन श्री गौरीशंकरप्रसाद एडवोकेट, श्री प्यारेलाल रस्तोगी जज और श्रीराम वाजपेयी स्काउट-कमिश्नर के साथ एक चौराहे पर खड़े होकर मैं बातचीत कर रहा था कि एक हृष्ट-पुष्ट सज्जन ने आकर हम लोगों को नमस्ते की और अपना नाम श्यामजी कृष्ण वर्मा बतलाया। अकस्मात् हम उनसे मिलकर गद्गद् हो गये, क्योंकि महर्षि दयानन्द सरस्वती की जीवनी में और भारतीय क्रान्ति के इतिहास में उनका शुभ नाम कई बार पढ़ा था। काशी के पुराने लोगों ने हमें बतलाया था कि कारमाइकेल पुस्तकालय में जब उन्होंने धाराप्रवाह संस्कृत में भाषण दिया था, तब पण्डितों की बड़ी भीड़ जमा हो गई और उनमें हलचल मच गई थी।

अस्तु, एक-दूसरे से परिचय प्राप्त करने के बाद उन्होंने हमें अपने यहाँ जलपान के लिए निमंत्रित किया। चार अगस्त को सायंकाल हम लोग उनके घर गये। भारत की राजनीति और आर्यसमाज की अवस्था पर बहुत देर तक बातचीत होती रही। हमें आश्चर्य इस बात से हुआ कि राजनैतिक क्रान्तिकारी जीवन जीते हुए भी उन्हें आर्यसमाज से अगाध प्रेम था और भारत में समाज की गतिविधियों और प्रगति का वे पूरा परिचय रखते थे। बातचीत के सिलसिले में

उन्होंने अपने पुस्तकालय के ऊपरी हिस्सों की ओर संकेत करके बतलाया कि महर्षि के सैकड़ों पत्र यहाँ रखे हैं, जिनके आधार पर यह लिखा जा सकता है कि वे किस प्रकार भारत को विदेशी शासन से मुक्त करने के लिए उत्कंठित थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा उसका सारांश यह है- ''लोगों ने स्वामी दयानन्द को पहचाना नहीं। इतना बड़ा विद्वान्, ऐसा सर्वतोमुखी क्रान्तिकारी फिर पैदा होना कठिन है। उनका सब काम व्यवस्थित होता था। उनका पंजाब और राजस्थान को अपने कार्य का क्षेत्र बनाना निरर्थक नहीं था। वे केवल धर्मगुरु ही नहीं थे, धर्म का उनका लक्ष्य व्यापक था। उनका भविष्य में क्या प्रोग्राम था, लोगों को मालूम नहीं है। मैंने आर्यसमाज के कई सज्जनों को लिखा था कि वे एक उत्साही नवयुवक को मेरे पास भेजें जो संस्कृत और अंग्रेजी अच्छी तरह जानता हो। संस्कृत का जानना इसलिए आवश्यक है कि महर्षि के सब पत्र संस्कृत में हैं। जो नवयुवक आवे उसे समाज अपने खर्च से मेरे पास भेजे। उसके यहाँ रहने का और यहाँ से भारत लौटने का खर्च मैं दूँगा। मेरे पास जो पत्र हैं, उनके आधार पर स्वामी जी के जीवन के उस पहलू पर प्रकाश पड़ जायेगा जो लोगों पर अब तक प्रकट नहीं हुआ है।'' इत्यादि।

हम लोगों के पास इतना समय नहीं था कि उनसे फिर मिलते, क्योंकि दूसरे ही दिन हमलोग जर्मनी के लिए रवाना हो गये। अब न मालूम वह सामग्री कहाँ गई। हमारे मन में यह धारणा थी कि श्यामजी क्रान्तिकारी होने के कारण बड़े उग्र, उतावले और जल्दबाज होंगे, पर हमने उन्हें बड़ा ही गम्भीर, सन्तुलित बुद्धिवाला और मिलनसार पाया।

'सार्वदेशिक' मासिक, सितम्बर १९५१ में प्रकाशित।

परिशिष्ट-४

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा का अद्भुत पाण्डित्य

बात उस समय की है जब पं० भीमसेन शर्मा (आगरा वाले) वैदिक यंत्रालय, अजमेर में ग्रन्थों का संशोधन करते थे। दैवयोग से सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी देशभक्त पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा उन दिनों अजमेर आये हुए थे। पं० वर्मा स्वामी दयानन्द के प्रधान शिष्य थे। स्वामी जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़कर ही वे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत प्रोफेसर के पद पर गये थे। जिन दिनों की यह बात है, वे विलायत में ही रहते थे। भारत में कभी-कभी अपना कारोबार देखने आ जाते थे। तब राजनीति में नहीं उतरे थे और न ब्रिटिश शासन की उन पर वक्र दृष्टि थी। 'परोपकारिणी सभा' और 'वैदिक यंत्रालय' के ट्रस्टियों में थे, इसलिए अक्सर यंत्रालय का निरीक्षण करने चले आते थे।

पं० भीमसेन जी ने श्यामजी की सुन्दर संस्कृत-सम्भाषण के लिए विशेषरूप से कीर्ति सुन रखी थी। वर्मा जी जब प्रेस देखते-भालते पण्डित जी के पास पहुँचे तो पं० भीमसेन जी से उनका परिचय कराया गया। इस पर पं० भीमसेन शर्मा ने बातचीत संस्कृत में ही आरम्भ कर दी, यह देखने के लिए कि वर्मा जी का संस्कृत पर कैसा अधिकार है। पं० भीमसेन जी को अपने साधिकार संस्कृत भाषण पर गर्व था जो उचित ही था। पं० श्यामजी को संस्कृत छोड़े मुद्दत हो गई थी। विलायत में रहते थे, संस्कृत से सम्पर्क नहीं रहा था, पर वे तो छुपे रुस्तम निकले। पण्डित जी उनकी असाधारण संस्कृत-भाषणपटुता सुनकर विस्मय-विमुग्ध हो गये।

श्यामजी समझ गये कि संस्कृत बोलने के बहाने यह मेरे संस्कृत ज्ञान की पण्डिताऊ ढ़ंग से परीक्षा लेना चाहते हैं, अत: शर्मा जी से बोले- आप मेरी अष्टाध्यायी में परीक्षा लीजिये। मुझे इतने दिन संस्कृत छोड़े हुए हो गये हैं, फिर भी भूला नहीं हूँ। यह कहकर आपने वही अपनी अष्टाध्यायी की प्रति मँगवाई, जो स्वामी दयानन्द से अध्ययन करते समय पढ़ी थी। पुस्तक को पण्डित जी के

हाथों में देकर बोले- जहाँ से इच्छा हो, वहाँ से पूछ लीजिये। पण्डित जी ने बहुत से प्रश्न किये, जिनका यथार्थ उत्तर मिला। यहाँ तक कि अध्याय, पाद और सूत्र की संख्या तक बतला दी। उनकी इस अद्‌भुत स्मरण शक्ति को देखकर पं० भीमसेन जी चकित रह गये। स्वामी दयानन्द के साक्षात् शिष्य में ऐसा अपूर्व वैदुष्य होना स्वाभाविक ही था।

-पं० पद्‌मसिंह शर्मा द्वारा लिखित एक संस्मरण

परिशिष्ट-५

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा विषयक पं० युधिष्ठिर मीमांसक का पत्र

श्री माननीय भारतीय जी,

सप्रेम नमस्ते।

आपका लेख संस्कृत जीवित भाषा (पं० श्यामजी का विश्व संस्कृत सम्मेलन में दिया गया भाषण) तथा ९ अगस्त ८४ का पत्र मिला। लेख बहुत उपयोगी है। इसे विशेषांक में छापने का विचार है। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के सम्बन्ध में बहुमूल्य, अलभ्य सामग्री बम्बई में जे० एन० राणा के पास विद्यमान है। श्यामजी जो मासिक पत्रिका (इण्डियन सोशियॉलॉजिस्ट) निकालते थे उसकी पूरी फाइल उनके पास है। मैं उनके घर पर ऋषि दयानन्द के पत्रों के सम्बन्ध में जानकारी लेने गया था, उससे पूर्व उन्होंने जो पत्र भेजा था और श्यामजी की फाइलों का जो ब्यौरा टाइप करके भेजा था, वह आपको भेज रहा हूँ।

जे० एन० राणा के दादा बलभद्रसिंह राणा का श्यामजी के साथ केवल घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं था, वे उनके कार्य में सहायक थे। श्यामजी की मृत्यु के पश्चात् राणा जी उनकी बहुत सी सामग्री भारत ले आये थे, वह जे० एन० राणा से पास बम्बई में सुरक्षित हैं। जे० एन० राणा ने बताया था कि श्यामजी के संग्रह को खरीदने के लिए नेहरू जी ने एक विशेष अधिकारी को उनके पास भेजा था। नेहरू जी दो लाख रुपये देना चाहते थे परन्तु राणा जी ने संग्रह नहीं दिया।

आपका शुभेच्छु
युधिष्ठिर मीमांसक

हमारे प्रकाशन

वेद हिन्दी भाष्य		3000.00
वेद संहिता		1200.00
वेद रहस्य	महात्मा नारायण स्वामी	30.00
एकादशोपनिषद्	महात्मा नारायण स्वामी	300.00
मृत्यु और परलोक	महात्मा नारायण स्वामी	75.00
कर्म रहस्य	महात्मा नारायण स्वामी	200.00
योग रहस्य	महात्मा नारायण स्वामी	50.00
मृत्यु रहस्य	महात्मा नारायण स्वामी	30.00
सांख्य दर्शन	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	130.00
न्याय दर्शन	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	160.00
वैशेषिक दर्शन	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	160.00
वेदान्त दर्शन	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	150.00
हम अंडा मांस क्यों न खायें	आचार्य आर्य नरेश	30.00
मृत्यु के पश्चात्	आचार्य आर्य नरेश	15.00
नारी राख या चिंगारी	आचार्य आर्य नरेश	25.00
Sanskar Vidhi	M. Dayanand saraswati	100.00
Rigveddadi Bhashya Bhumika	M. Dayanand saraswati	150.00
Light of Truth	Ganga Pd Upadyaya	300.00
Vaidik Marriage Producter	Dr. Rop Kishor Shastri	15.00
विरजानन्द चरित	देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय	50.00
दयानन्द सूक्ति मुक्तावली	डॉ भवानीलाल भारतीय	25.00
आर्य समाज के दस नियम	डॉ भवानीलाल भारतीय	15.00
सत्यार्थ प्रकाश एक अध्ययन	गंगा प्रसाद उपाध्याय	20.00
आर्योद्देश्यरत्नमाला		
व्यवहारभानु	महर्षि दयानन्द सरस्वती	15.00
आर्याभिविनय	महर्षि दयानन्द सरस्वती	30.00
उपदेश मंजरी	महर्षि दयानन्द सरस्वती	30.00
अथ पञ्चमहायज्ञविधि	महर्षि दयानन्द सरस्वती	15.00
क्रान्तिदूत महर्षि दयानन्द	गणेश भगत	25.00
वैदिक सोलह संस्कार	डॉ. अशोक आर्य	25.00
वैदिक धर्म का स्वरूप	प्रो. रामविचार एम.ए	60.00
नशा नाश की निशानी	आचार्य नन्दकिशोर	5.00
गृहस्थ जीवन	सुरेशचन्द्र वेदालंकार	8.00
दुर्गुण दूर भगाईये	सुरेशचन्द्र वेदालंकार	8.00

चतुर्वेद शतकम्	स्वामी अच्युतानन्द	45.00
पर्व पद्धति	पं. भवानी प्रसाद	45.00
वैदिक वैवाहिकीधम्		
(वैदिक विवाह पद्धति)	डॉ. रूपकिशोर शास्त्री	10.00
ब्रह्म स्रोत		6.00
ओंकार स्रोत		3.00
मेरे पिता (स्वामी श्रद्धानन्द)	इन्द्र विद्यावाचस्पति	60.00
श्रीमद्दयानन्द प्रकाश	स्वामी सत्यानन्द	200.00
प्राकृतिक चिकित्सा	स्वामी योगानन्द योगाचार्य (बाबा रमोला प्रसाद)	20.00
अमर शहीदों का गाथाएँ	संकलन:- संजीव आर्य	25.00
वैदिक विनय	आचार्य अभयदेव	130.00
अपने स्वरूप की पहचान	महात्मा चैतन्यमुनि	15.00
सुखी गृहस्थ हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र	महात्मा चैतन्यमुनि	15.00
उपासना मूर्तिपूजा	स्वामी जगदीश्वरानन्द	20.00
ऋषि तर्पण	अभिमन्यु खुल्लर	25.00
अनन्त की ओर	डॉ सुरेन्द्र कुमार शर्मा	30.00
प्रार्थना प्रबोध	ओम्प्रकाश शास्त्री	25.00
मनुस्मृति	पं. तुलसी राम स्वामी	250.00
आर्य समाज	लाला लाजपत राय	100.00
चतुर्वेदामृत रस	मांगे राम आर्य	40.00
महर्षि दयानन्द सरस्वती	नरेन्द्र कुमार	10.00
सरदार पटेल	नरेन्द्र कुमार	10.00
वीर सावरकर	नरेन्द्र कुमार	10.00
बाल गंगाधर तिलक	नरेन्द्र कुमार	10.00
अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द	रघुनाथ प्रसाद पाठक	10.00
दिव्य दयानन्द	क्षितीश वेदालंकार	30.00
ऋषि दयानन्द वचनामृत	संकलन:- पं० देवव्रत धर्मेन्दु	12.00
वेद संदेश	संकलन:- पं० देवव्रत धर्मेन्दु	15.00
गायत्री गौरव		5.00
The Great Gayatri		5.00
महर्षि दयानन्द के मत में मनुष्य साईज 23x36x6		45.00

महर्षि दयानन्द सरस्वती

इंडियन सोशोलॉजिस्ट (समाचार पत्र), लन्दन

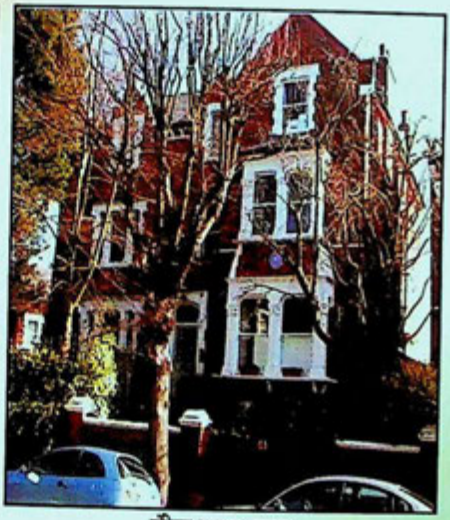

इंडिया हाऊस, लन्दन

भारत सरकार द्वारा जारी
डाक टिकट 1989

श्यामजी कृष्ण वर्मा का पैतृक घर, भुज (गुजरात)

आर्य प्रकाशन
414, सुन्दर बाजार, जादीबी मेट्र, दिल्ली-6